प्रान्तीय समिति, इन्दौर ने भी इसके प्रकाशन का निश्चय किया; परिणामस्वरूप दस हजार प्रतियों का द्वितीय संस्करण दिनांक १ फरवरी, १९७५ को प्रकाशित हुआ तथा उसके एक माह के अन्दर ही दस हजार प्रतियों का तृतीय संस्करण १ मार्च, १९७५ को प्रकाशित करना पड़ा। उक्त तीनों ही संस्करण समाप्त हो जाने पर यह चतुर्थ संस्करण दस हजार प्रतियों का ही आपके समक्ष प्रस्तुत है।

पुस्तक की लोकप्रियता के बारे में विशेष क्या लिखें – इसको आल इण्डिया दिगम्बर भगवान महावीर २५००वाँ निर्वाण-महोत्सव सोसाइटी, आसाम-बंगाल-बिहार-उड़ीसा प्रान्तीय समिति, राँची ने भी प्रकाशित कराया है। आल इण्डिया दिगम्बर भगवान महावीर २५००वाँ निर्वाण-महोत्सव सोसाइटी, गुजरात प्रदेश ने इसका गुजराती में प्रकाशन का निर्णय लिया है। कन्नड़ व मराठी में भी इसके अनुवाद तैयार हो रहे हैं। उनकी जनता द्वारा आतुरता से प्रतीक्षा की जारही है। गुजरात, मध्यप्रदेश एवं बिहार से निकलने वाले धर्मचक्रों ने विक्रय एवं भेंट देने हेतु इसे अपने साथ रखा है।

डॉ० भारिल्लजी की एक अन्य लघु कृति 'तीर्थंकर भगवान महावीर' का तो कन्नड़ी, गुजराती और मराठी के अलावा असमी व तेलगु में भी अनुवाद हुआ है। तेलगु में तो इसकी एक लाख पचास हजार प्रतियाँ भगवान महावीर २५००वाँ निर्वाण-महोत्सव राज्य-स्तरीय समिति, आन्ध्रप्रदेश ने प्रकाशित कराई हैं।

पुस्तक की व लेखक की लोकप्रियता का इससे प्रबल प्रमाण और क्या होगा कि इनसे प्रभावित होकर दिनांक २४-२-१९७५ से दिनांक २८-२-१९७५ तक पिपलानी-भोपाल में सम्पन्न होने वाले श्री दि० जैन पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर [illegible] दि० जैन मुमुक्षु मण्डल, आगरा द्वारा डॉ० भारिल्लजी का [illegible] किया गया व उनको प्रशस्ति-पत्र व शाल

आदि के साथ २५००१) का पुरस्कार भेंट किया गया। यह डॉ० भारिल्लजी की महानता है कि उन्होंने अपनी लघुता प्रकट करते हुए, एवं सत्धर्म के प्रचार व प्रसार करने की अपनी तीव्र भावना की पूर्ति हेतु सत्साहित्य सृजन करना अपना कर्त्तव्य मानते हुए, उक्त राशि में १०१) अपनी ओर से मिलाकर यह राशि वीतराग-विज्ञान साहित्य प्रकाशन को सत्साहित्य प्रचार के लिये प्रदान कर दी।

इस सुअवसर पर आध्यामिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी को स्मरण किये बिना नहीं रह सकता। उनके पावन प्रवचनों के श्रवण एवं पठन से ही मुझे तात्त्विक रुचि जागृत हुई है। मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ।

पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट एवं डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल के हम विशेष आभारी हैं, जिन्होंने हमारी भावना का ध्यान रखते हुये हमें उक्त प्रकाशन की सहर्ष अनुमति प्रदान की है।

श्री चिरंजीलालजी जैन, अलवर प्रकाशन, जयपुर के विशेष रूप से आभारी हैं जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर इस लघु आकार वाली वृहद् पुस्तक को छपाने की जुगाड़ बिठाई है। उनके सद्प्रयत्नों के फलस्वरूप ही ये प्रकाशन हो सके हैं। साथ ही व्यवस्थापक, दिनेश प्रिंटर्स, तहवीलदारों का रास्ता, जयपुर भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस कृति का मुद्रण किया है।

इस पुस्तक का अन्य भारतीय भाषाओं में भी व अंग्रेजी में अनुवाद हो व सम्पूर्ण भारत के अलावा यह विदेशों में भी पहुँचे और समस्त विश्व के लिए यह कल्याणकारी हो, ऐसी मांगलिक भावना के साथ,

चैतन्य विलास
३२०, महात्मा गांधी मार्ग,
आगरा–२
दि० १ जून, '७५

विनीत
पदमचन्द जैन
अध्यक्ष
श्री वीतराग-विज्ञान साहित्य प्रकाशन

प्रकाशकीय
[प्रथम संस्करण]

सचमुच ही हम सब बड़े भाग्यशाली हैं क्योंकि हमें अपने जीवन काल में तीर्थंकर भगवान महावीर का २५००वाँ निर्वाण-महोत्सव मनाने का महान सौभाग्य प्राप्त हुआ है। हम सब वर्षों से इसकी तैयारी में व्यस्त हैं। भारतवर्ष का समस्त जैन समाज ही नहीं, भारत सरकार व राज्य सरकारें भी इस महोत्सव को शासकीय स्तर पर विशाल रूप में मना रही हैं। सम्पूर्ण देश में उत्साह का वातावरण है। विदेशों में भी यथास्थान यथानुरूप उत्सव मनाने की तैयारियाँ चल रही हैं।

यह महोत्सव दीपावली सन् १९७४ ई० से दीपावली १९७५ ई० तक पूरे वर्ष भर तक मनाया जाने वाला है। इस वर्ष को शासकीय तौर पर संयम वर्ष भी घोषित कर दिया गया है।

इस पावन-प्रसंग पर सारे ही देश में अनेक निर्माण कार्य हो रहे हैं, जिसमें भगवान महावीर के जीवन और सिद्धान्तों के विवेचक साहित्य का निर्माण भी बहुत हुआ है, हो रहा है, और होगा।

यद्यपि यह एक शुभ लक्षण है, तथापि उच्चस्तर का प्रामाणिक साहित्य विरल ही है। बहुत कुछ अप्रमाणिक एवं अनर्गल साहित्य भी प्रकाशित हुआ है। इसमें दो कारण मुख्य रहे हैं – भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के सही ज्ञान का अभाव और अति आधुनिकता एवं अस्वाभाविक समन्वय का व्यामोह।

इस मंगलमय अवसर पर पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने भी भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान के प्रचार और प्रसार की अनेक योजनाओं के साथ ही आज से लगभग दो-ढाई वर्ष पूर्व श्री जिनबिंब पंचकल्याणक महोत्सव, फतेपुर (गुजरात) के शुभ अवसर पर आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के सान्निध्य में यह निश्चय भी किया कि भगवान महावीर के जीवन और सिद्धान्तों पर सांगोपांग प्रामाणिक प्रकाश डालने वाली एक पुस्तक प्रकाशित की जावे।

द्वितीय खण्ड में भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित मुक्ति के मार्ग तार्किक किन्तु रोचक एवं बोधगम्य विवेचना प्रस्तुत की गई है। ाँ एक ओर अनेकान्त और स्याद्वाद जैसे गूढ़ व गंभीर विषयों पर धिकार सप्रमाण तर्कसंगत निरूपण हुआ है, वहीं दूसरी ओर ा-शास्त्र-गुरु जैसे भक्ति-प्रधान एवं भेद-विज्ञान जैसे आध्यात्मिक वमयी विषयों को मीठी मार के साथ-साथ उपयुक्त उदाहरणों के रा गले उतारने का सफल प्रयास किया गया है। सम्पूर्ण पुस्तक में द्योपान्त मौलिकता विद्यमान होने पर भी सर्वत्र जिनवाणी का नुगमन है।

महावीर-वाणी के प्रतिपादन का केन्द्र बिन्दु आत्मा कहीं भी ाझल नहीं होने पाया है; चाहे इतिवृत्तात्मक कथा भाग हो, चाहे विवेचनात्मक सिद्धान्त भाग।

दोनों खण्डों के पश्चात् उपसंहार में भगवान महावीर द्वारा तिपादित सिद्धान्तों को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखा गया है, जिसमें नकी व्यावहारिक उपयोगिता आधुनिक सन्दर्भ में स्पष्ट की गई है।

अन्त में तीन परिशिष्ट दिये गये हैं :—

प्रथम परिशिष्ट में जैन धर्म एवं भगवान महावीर के नाम से ड़े हुए सर्वाधिक चर्चित विषय 'अहिंसा' पर जिनागम के परिप्रेक्ष्य सांगोपांग प्रकाश डाला गया है। इसे परिशिष्ट में रखने के कारण स पर पाठकों का सर्वाधिक ध्यान आकर्षित करना एवं इसके संबंध प्रचलित अनेक भ्रान्त धारणाओं पर सयुक्ति एवं सप्रमाण विचार रना रहा है, जो कि पुस्तक के मध्य में अनुपात की दृष्टि से ुक्तिसंगत नहीं था।

द्वितीय परिशिष्ट में प्रस्तुत कृति के संदर्भ-ग्रन्थों की सूची है।

तृतीय परिशिष्ट में लेखक द्वारा रचित नवीन भावपूर्ण भगवान हावीर की पूजन दी गई है, जिसमें भाव पक्ष में साथ-साथ काव्यगत ौन्दर्य भी द्रष्टव्य है।

इस तरह इस ग्रन्थ को सर्वांग-सुन्दर बनाने का पूरा-पूरा प्रयास किया गया है। मेरी दृष्टि में यह कृति बहुत अच्छी बन पड़ी है। मेरी भावना है कि यह पुस्तक प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में पहुँचे और वह इसके अध्ययन द्वारा अपने आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करे।

इस पुस्तक की हम प्रथम संस्करण में ही दस हजार प्रतियाँ प्रकाशित कर रहे हैं। कागज की कमी, अनुपलब्धि और भीषण महंगाई के युग में भी हम इतनी अधिक प्रतियाँ इस कारण प्रकाशित कर सके हैं कि हमें इसे प्रेस में देने के पूर्व बिना देखे ही छह हजार प्रतियों के आर्डर प्राप्त हो चुके हैं। यह सब डॉ० भारिल्लजी की लोकप्रिय लौह-लेखनी का ही परिणाम है। इन्दौर विश्वविद्यालय द्वारा पीएच० डी० के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध 'पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' की हमने गत वर्ष ३००० प्रतियाँ प्रकाशित की थीं, जो वर्ष भर में ही समाप्तप्राय: हैं। उनके द्वारा लिखित 'अपने को पहचानिए' छह माह में बारह हजार बिक चुकी हैं तथा अठारह माह पूर्व प्रकाशित लघुपुस्तिका 'तीर्थंकर भगवान महावीर' अब तक पचास हजार प्रकाशित हो चुकी है। इनके गुजराती अनुवाद भी गुजरात दिगम्बर महावीर नि० समिति प्रकाशित कर चुकी है। 'तीर्थंकर भगवान महावीर' का तो असमी भाषा में भी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

इस सर्वोपयोगी कृति को लागतमात्र मूल्य में जन-जन तक पहुँचाने के लिये कृत-संकल्प पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की गतिविधियों का यहाँ संक्षिप्त परिचय देना अप्रासंगिक न होगा।

स्मारक भवन का शिलान्यास आध्यात्मिक प्रवक्ता माननीय श्री खेमचन्दभाई जेठालाल सेठ के हाथ से हुआ था एवं उद्घाटन आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी के कर-कमलों से दि० १३ मार्च, १९६७ ई० को हुआ। संस्था का मुख्य उद्देश्य आत्म-कल्याणकारी, परम-शान्ति-प्रदायक वीतराग-विज्ञान तत्व का नई पीढ़ी में प्रचार व प्रसार करना है। इसकी पूर्ति के लिए संस्था ने

तत्वप्रचार सम्बन्धी अनेक गतिविधियाँ प्रारम्भ की, जिन्हें अत्यल्प काल में ही अप्रत्याशित सफलता प्राप्त हुई हैं। वर्तमान में ट्रस्ट द्वारा निम्नलिखित गतिविधियाँ संचालित हैं :-

पाठ्यपुस्तक निर्माण विभाग

बालकों को सामान्य तत्त्वज्ञान प्राप्ति एवं सदाचारयुक्त नैतिक जीवन बिताने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से युगानुकूल उपयुक्त धार्मिक पाठ्यपुस्तकें सरल, सुबोध भाषा में तैयार करने मे यह विभाग कार्यरत है। इसके अन्तर्गत बालबोध पाठमाला भाग १, २, ३; वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १, २, ३; तथा तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १, २ पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। बालकों एवं युवकों में धार्मिक शिक्षा एवं जागृति के लिये ये पुस्तकें अत्यन्त उपयोगी व लोकप्रिय सिद्ध हुई हैं।

इन पुस्तकों की लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पाँच वर्ष के भीतर इनकी चार लाख से भी अधिक प्रतियाँ बिक चुकी हैं तथा बीस हजार से ऊपर छात्र-छात्रायें इनका प्रतिवर्ष अध्ययन करते हैं एवं परीक्षा में बैठते हैं।

समाज के सर्वमान्य नेता साहू शान्तिप्रसादजी जैन ने इनकी सरलता और रोचक शैली से प्रभावित होकर इनके ५०० सैट अपनी ओर से समाज की सभी शिक्षण-संस्थाओं और उनके अधिकारियों को भिजवाये हैं। साथ ही प्रेरणा का पत्र भी लिखा, जिसमें उक्त पुस्तकों की प्रशंसा करते हुए उन्हें पाठ्यक्रम में शामिल करने एवं छात्रों को परीक्षा में बैठाने का अनुरोध किया।

परीक्षा विभाग

उपर्युक्त पुस्तकों की पढ़ाई आरम्भ होते ही सुनियोजित ढंग से परीक्षा लेने की समुचित व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलस्वरूप 'श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा' बोर्ड की स्थापना हुई। इस परीक्षा बोर्ड में सन् १९६८-६९ में ५७१ छात्र परीक्षा में बैठे, जबकि १९७३-७४ में संख्या बढ़कर २०,०३५ हो गई।

परीक्षा बोर्ड से विभिन्न प्रान्तों की २०६ शिक्षण-संस्थायें सम्बन्धित हैं जिनमें २२० तो परीक्षा बोर्ड द्वारा स्थापित नवीन वीतराग-विज्ञान पाठशालाएँ हैं।

गुजराती भाषी परीक्षार्थियों की सुविधा की दृष्टि से इसकी एक शाखा अहमदाबाद में भी स्थापित की गई है।

शिविर विभाग

१. प्रशिक्षण शिविर – श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड का पाठ्यक्रम चालू हो जाने पर और उत्तरपुस्तिकाओं के अवलोकन करने पर अनुभव हुआ कि अध्ययन शैली में पर्याप्त सुधार हुए बिना इन पुस्तकों को तैयार करने का उद्देश्य सफल नहीं हो सकेगा। अतएव धार्मिक अध्यापन की सैद्धान्तिक व प्रायोगिक प्रक्रिया में अध्यापक बन्धुओं को प्रशिक्षित करने हेतु ग्रीष्मावकाश के समय २० दिवसीय प्रशिक्षण शिविर लगाया जाना प्रारम्भ किया गया तत्सम्बन्धी एक पुस्तक 'वीतराग विज्ञान-प्रशिक्षण निर्देशिका' भी प्रकाशित की गई है।

इन प्रशिक्षण शिविरों की लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि सारे भारत से एक ही वर्ष में अनेक आमंत्रण, आग्रह आने लगे। जिसे भी एक वर्ष बाद की बात कहते, कोई नहीं मानता। ब्र० धन्यकुमारजी बेलोकर आदि अनेक गणमान्य महानुभावों के अति आग्रह पर यह विचार किया गया कि दशहरा-दीपावली अवकाश में शीतकालीन प्रशिक्षण शिविर भी चालू किया जाय। परिणामस्वरूप मलकापुर में गत वर्ष प्रशिक्षण शिविर लगा। इस वर्ष भी अनेक स्थानों से अत्यन्त आग्रह थे लेकिन प्रस्तुत कृति के निर्माण में व्यस्त होने से इस वर्ष शिविर नहीं लगा सके, किन्तु भविष्य में नियमित रूप से शीतकालीन व ग्रीष्मकालीन दोनों शिविरों के लगाने की योजना है।

अभी तक ऐसे कुल सात शिविर क्रमशः जयपुर, विदिशा, जयपुर, आगरा, विदिशा, मलकापुर व छिंदवाड़ा में सम्पन्न हो चुके हैं, जिनमें

१४० अध्यापकों ने प्रशिक्षण प्राप्त किया है। आगामी प्रशिक्षण शिविर गुजरात व महाराष्ट्र में लगाये जाने की माग है।

२. शिक्षण शिविर – प्रशिक्षण शिविर की भांति ही बालकों एवं प्रौढ़ों के लिए भी यथावसर जगह-जगह शिक्षण शिविर लगाये जाते हैं।

इनमें लोकप्रिय प्रवचनकारों के साथ ही ट्रस्ट के प्रशिक्षण शिविरों में प्रशिक्षित अध्यापक पढ़ने जाते हैं। अतः परीक्षा बोर्ड की छात्र संख्या बढ़ाने में इनका बहुत बड़ा योगदान है।

इस वर्ष ग्रीष्मकालीन प्रशिक्षण शिविर के अवसर पर छिंदवाड़ा में ट्रस्ट ने महावीर निर्वाणोत्सव वर्ष के उपलक्ष में एक-एक सप्ताह के शिक्षण शिविर लगाने की योजना बनाई जो डॉ० भारिल्लजी के नेतृत्व में संचालित होंगे। इस शृंखला में सर्वप्रथम शिविर नागपुर निर्वाणोत्सव समिति के आमंत्रण पर नागपुर में लगा, जिसकी सफलता ने हमारे उत्साह को बहुत बढ़ाया है। दूसरा शिविर बालचन्द नगर (महाराष्ट्र) में १७-११-७४ से २३-११-७४ तक लग रहा है, और भी अनेक शिविरों के आमन्त्रण आ चुके हैं। अतः वर्ष भर तक यथासंभव अधिक से अधिक शिविरों के आयोजन की योजना है।

शिक्षा विभाग

इस विभाग की चार शाखायें हैं :–

(१) वीतराग-विज्ञान पाठशाला विभाग
(२) सरस्वती भवन विभाग
(३) वाचनालय विभाग
(४) शोधनकार्य विभाग

१. वीतराग-विज्ञान पाठशाला विभाग – यह अनुभव किया गया है कि हमारे स्कूलों में, जिन पर समाज का लाखों रुपया खर्च होता है, धार्मिक शिक्षा एक तो चलती ही नहीं, और चलती भी है तो नाममात्र की। अतः एक योजना बनाई गई कि देश में जगह-

जगह ऐसी पाठशालाएँ चलाई जावें जिनमें एक घंटा मात्र धर्म की शिक्षा दी जाय। इसके अन्तर्गत सारे भारतवर्ष में २२० वीतराग-विज्ञान पाठशालाएँ चल रही हैं। इस प्रकार की पाठशालाओं के लिए, यदि चाहा जावे तो, बीस रुपया माहवार का अनुदान देने की व्यवस्था है। इन पाठशालाओं में परीक्षा बोर्ड से प्रशिक्षित अध्यापक-अध्यापिकाएँ कार्य करते हैं। इस दिशा में कार्य करने की बहुत गुंजाइश है।

इस विभाग के कार्यक्षेत्र की विशालता को देखकर इसकी एक अखिल भारतीय समिति बनाई गई जिसका नाम रखा गया—'वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति'।

जब इसका काम बहुत विस्तार पाता गया तो फिर क्रमशः इसी के अन्तर्गत विदिशा प्रशिक्षण शिविर के अवसर पर मध्यप्रदेशीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति, आगरा प्रशिक्षण शिविर के अवसर पर उत्तरप्रदेशीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति, फतेहपुर पंच-कल्याणक के अवसर पर गुजरात वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति एवं मलकापुर शिविर के अवसर पर महाराष्ट्र वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति की स्थापना हो गई।

सभी अपनी-अपनी शक्ति और योग्यतानुसार कार्य कर रही हैं और भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित वीतराग-विज्ञानमय धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान कर रही हैं।

२. सरस्वती भवन विभाग — अध्ययन व स्वाध्याय के लिए सर्व प्रकार का साहित्य उपलब्ध हो सके, इस दिशा में सरस्वती भवन में अब तक १८२३ ग्रन्थों का संग्रह किया जा चुका है।

३. वाचनालय विभाग — वाचनालय विभाग में लौकिक एवं पारलौकिक ज्ञान की वृद्धि हेतु धार्मिक, सामाजिक और लौकिक सभी प्रकार की पत्र-पत्रिकाएँ मंगाई जाती हैं। वर्तमान में इनकी संख्या २० है।

४. शोधकार्य विभाग-'पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' नामक शोध-प्रबंध इस विभाग की प्रथम उपलब्धि है। इस विभाग द्वारा आगे और भी शोधकार्य हाथ में लिए जाने की अपेक्षा है।

प्रकाशन विभाग

हमारे प्रकाशन श्री टोडरमल ग्रन्थमाला के नाम से होते हैं। सर्वप्रथम हमें आचार्यकल्प पंडितप्रवर टोडरमलजी की अमरकृति 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के प्रकाशन का महान सौभाग्य प्राप्त हुआ। तदुपरान्त जैन समाज के प्रसिद्ध मूर्धन्य विद्वानों के मध्य जयपुर (खानिया) में हुई ऐतिहासिक तत्त्वचर्चा जो कि 'खानिया तत्त्वचर्चा' के नाम से प्रसिद्ध है, का प्रकाशन हमारे यहाँ हुआ। हमारे सभी प्रकाशनों की सूची प्रस्तुत ग्रन्थ के आवरण पृष्ठ पर दी गई है।

महाराष्ट्र व गुजरात की माँग पर हमारी कतिपय पुस्तकों का मराठी व गुजराती भाषा में भी प्रकाशन हुआ है। इस विभाग द्वारा अब तक चार लाख सड़सठ हजार सात सौ की संख्या में छोटे-बड़े ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है।

प्रचार विभाग

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा श्री दिगम्बर जैन बड़ा मंदिर तेरापंथियान, जयपुर में प्रातः और श्री टोडरमल स्मारक भवन में सायंकाल प्रवचन होता है, जिससे काफी संख्या में तत्त्वप्रेमी समाज लाभ लेता है। बाहर से उनको प्रवचनार्थ बहुत आमंत्रण आते हैं, पर समयाभाव के कारण बहुत कम जा पाते हैं। फिर भी बम्बई, दिल्ली, गोहाटी, अहमदाबाद, उज्जैन, नागपुर, सोलापुर, कोल्हापुर, इन्दौर, ग्वालियर, सागर, उदयपुर, भीलवाड़ा, विदिशा, अलवर, आगरा, कुचामन, अशोकनगर, ललितपुर, शिरपुर, महावीरजी, गुना, सीकर, खण्डवा, कारंजा, मलकापुर, छिंदवाड़ा आदि कई स्थानों पर डॉ० भारिल्लजी गए हैं और उनके द्वारा महती धर्म प्रभावना हुई है। आपकी व्याख्यान शैली से सारा समाज परिचित ही है।

चुन्नीलालजी मेहता फतेपुर, अध्यक्ष, श्री दिगम्बर भगवान महावीर २५००वाँ निर्वाण-महोत्सव समिति, गुजरात; एवं श्री गुलाबचन्दजी लुहाड़िया, मंत्री, श्री दि० भगवान महावीर २५००वाँ निर्वाण-महोत्सव समिति, जयपुर संभाग, जयपुर को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते, जिन्होंने क्रमश: एक हजार और पांच-पांच सौ प्रतियों के आर्डर देकर अनुगृहीत किया है। हम उन सभी समितियों और महानुभावों के भी आभारी हैं, जिनके आर्डर हमें पुस्तक-मुद्रण के पहले ही प्राप्त हो चुके हैं। उन सब के नामों का उल्लेख करना यहां संभव नहीं है।

श्री राजमलजी जैन ने दिन-रात एक करके इस पुस्तक के एक-एक पृष्ठ को शुद्ध और सुन्दर बनाया है। उनका आभार जितना मानें उतना कम है।

अन्त में श्री सोहनलालजी जैन व समस्त जयपुर प्रिन्टर्स परिवार बहुत-बहुत धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने अल्प समय में ही ऐसा सुन्दर मुद्रण करके आपके समक्ष प्रस्तुत किया है और जिनसे सदा ही घर जैसा व्यवहार प्राप्त हुआ है। श्री हेमचन्दजी को भी धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य मानता हूं, जिन्होंने पांडुलिपि तैयार करने में पूरा-पूरा सहयोग दिया है।

द्वितीय संस्करण हेतु समुचित सुझावों की अपेक्षा के साथ,

ए-४, बापूनगर
जयपुर, ३०२००४
१ नवम्बर, १९७४ ई०

नेमीचन्द पाटनी
मंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

विषय-सूची

लेखक के अन्य प्रकाशन

१. पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	७-०
२. अपने को पहिचानिए [हिन्दी, गुजराती]	०-५
३. सर्वोदय तीर्थ	२-०
४. अनेकान्त और स्याद्वाद	०-३
५. तीर्थंकर भगवान महावीर [हिन्दी, गुजराती]	०-४
६. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	२-६
७. पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य	०-६५
८. अर्चना [पूजन संग्रह]	०-४०
९. बालबोध पाठमाला भाग १ [हिन्दी, गुजराती, मराठी]	०-५
१०. बालबोध पाठमाला भाग २ [हिन्दी, गुजराती, मराठी]	०-७
११. बालबोध पाठमाला भाग ३ [हिन्दी, गुजराती, मराठी]	०-७
१२. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ [हिन्दी, गुजराती]	०-७
१३. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २ [हिन्दी, गुजराती]	१-०
१४. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग ३ [हिन्दी, गुजराती]	१-०
१५. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१-२
१६. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१-२
१७. मैं कौन हूँ ? [निबंध संग्रह]	१-[illegible]

प्रथम खण्ड

पूर्व-परम्परा एवं पृष्ठभूमि

पूर्व भव

वर्तमान भव

महावीर-वन्दना

जो मोह माया मान मत्सर, मदन मर्दन वीर हैं।
जो विपुल विघ्नों बीच में भी, ध्यान धारण धीर हैं॥
जो तरण-तारण भव-निवारण, भव-जलधि के तीर हैं।
वे वंदनीय जिनेश, तीर्थंकर स्वयं महावीर हैं॥१॥

जो राग-द्वेष विकार वर्जित, लीन आतम ध्यान में।
जिनके विराट् विशाल निर्मल, अचल केवलज्ञान में॥
युगपद् विशद सकलार्थ झलकें, ध्वनित हों व्याख्यान में।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में॥२॥

जिनका परम पावन चरित, जलनिधि समान अपार है।
जिनके गुणों के कथन में, गणधर न पावें पार है॥
बस वीतराग-विज्ञान ही, जिनके कथन का सार है।
उन सर्वदर्शी सन्मती को, वंदना शत बार है॥३॥

पूर्व-परम्परा एवं पृष्ठभूमि

भगवान महावीर ने कोई नया धर्म नहीं चलाया। उन्होंने जो कुछ कहा, वह सदा से है, सनातन है। उन्होंने धर्म की स्थापना नहीं, उसका उद्घाटन किया है। उन्होंने धर्म को नहीं, धर्म की सही धारणा को स्थापित किया। धर्म तो वस्तु के स्वभाव को कहते हैं[1]। वस्तु का स्वभाव बनाया नहीं जा सकता। जो बनाया जा सके वह स्वभाव कैसा? वह तो जाना जाता है। कर्तृत्व के अहंकार एवम् ममत्व के ममकार से दूर रहकर जो 'स्व' और 'पर' को समग्र रूप से जान सके, भगवान महावीर के अनुसार वही भगवान है। भगवान जगत का तटस्थ ज्ञाता-दृष्टा होता है, कर्ता-धर्ता नहीं। जो समस्त जगत को जानकर उससे पूर्ण अलिप्त वीतराग रह सके अथवा पूर्ण रूप से अप्रभावित रहकर जान सके, वही भगवान है। तीर्थंकर भगवान वस्तु स्वरूप को जानते हैं, बताते हैं; बनाते नहीं।

भगवान महावीर तीर्थंकर थे, उन्होंने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया। जिससे संसार-सागर तिरा जाय उसे तीर्थ कहते हैं और जो ऐसे तीर्थ को करें अर्थात् संसार-सागर से स्वयं पार उतरें तथा उतरने का मार्ग बतायें, उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। भगवान महावीर भरतक्षेत्र में इस युग के चौबीसवें एवं अंतिम तीर्थंकर थे। उनसे पूर्व ऋषभदेव आदि तेईस तीर्थंकर और हो चुके थे जिनका विस्तृत वर्णन जैन पुराणों में उपलब्ध है।

कालचक्र के किसी भी खण्ड को उसकी पूर्वोत्तर परम्परा से अलग करके नहीं देखा जा सकता। पूर्वोत्तर परम्परा के परिप्रेक्ष्य

---

[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४७६

[illegible]

भगवान महावीर की पूर्व-परम्परा एवं पृष्ठभूमि को समझने के लिए ऐतिहासिक आधार भी प्राप्त है। इनसे पूर्व तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ, बाईसवें तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमि और इक्कीसवें तीर्थंकर भगवान नमिनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार कर लिया गया है।

मोहनजोदड़ो के खंडहरों से प्राप्त योगीश्वर ऋषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा ने इतिहासकारों को प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव पर सोचने के लिए बाध्य कर दिया है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान एवं महान कवि रामधारीसिंह 'दिनकर' लिखते हैं :-

"मोहनजोदड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर जो श्री ऋषभदेव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है जैसे कालान्तर में शिव के साथ समन्वित हो गई। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं है कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेदपूर्व हैं[1]।"

जैन धर्म और तीर्थंकरों की परम्परा की प्राचीनता को वैदिक संस्कृत के प्राचीनतम ग्रंथ वेदों और वैदिक पुराणों में प्राप्त कतिपय उल्लेखों ने स्पष्ट कर दिया है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् डॉ० राधाकृष्णन् का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है :-

"इस बात के प्रमाण पाये जाते हैं कि ईसवी पूर्व प्रथम

[1] आजकल, मार्च १९६२, पृष्ठ ८ (जै० मो० इ० ती०, पृष्ठ ६०)

शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैन धर्म वर्द्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नामों का निर्देश है। भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक थे[1]।'

डॉ० विरूपाक्ष वाडियर वेदों में जैन तीर्थंकरों के उल्लेखों का कारण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं :—"प्रकृतिवादी मरीचि ऋषभदेव का पारिवारिक था।.........मरीचि ऋषि के स्तोत्र वेद-पुराण आदि ग्रंथों में हैं और स्थान-स्थान पर जैन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है। कोई ऐसा कारण नहीं कि हम वैदिक काल में जैन धर्म का अस्तित्व न मानें[2]।"

भागवत पुराण में ऋषभदेव का उल्लेख बड़े ही सम्मान के साथ हुआ है—"ऋषभदेव ने पृथ्वी का पालन करने के लिए भरत को राजगद्दी पर बिठाया और स्वयं उपशमशील, निवृत्तिपरायण महामुनियों के भक्ति-ज्ञान और वैराग्य रूप परमहंसोचित धर्म की शिक्षा देने के लिए बिलकुल विरक्त हो गये। केवल शरीर मात्र का परिग्रह रखा[3]।"

डॉ० बुद्धप्रकाश, डी० लिट्० ने अपने ग्रंथ "भारतीय धर्म एवं संस्कृति" में लिखा है :—

"महाभारत में विष्णु के सहस्र नामों में श्रेयांस, अनंत, धर्म, शान्ति और संभव नाम आते हैं और शिव के नामों में ऋषभ, अजित, अनन्त और धर्म मिलते हैं। विष्णु और शिव दोनों का एक नाम सुव्रत दिया गया है। ये सब नाम तीर्थंकरों के हैं। लगता

---

[1] Indian Philosophy, Vol. I, p. 287

[2] महावीर जयन्ती स्मारिका १९६४, पृष्ठ ४२

[3] श्रीमद्भागवत् ५।५।२८ (जै० सा० इ० पी०, पृष्ठ ५८)

है कि महाभारत के समन्वयपूर्ण वातावरण में तीर्थंकरों को विष्णु, शिव के रूप में सिद्ध कर धार्मिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। इससे तीर्थंकरों की परम्परा प्राचीन सिद्ध होती है[1]।"

मेजर-जनरल जे० सी० आर० फर्लांग ने अपनी पुस्तक "The Short Study in Science of Comparative Religion" में लिखा है कि ईसा से अगणित वर्ष पहले से जैन धर्म भारत में फैला हुआ था। आर्य लोग जब मध्य भारत में आये तब यहाँ जैन लोग मौजूद थे[2]।

"जैनिज्म इन बिहार" पृष्ठ १ पर अभिव्यक्त पी०सी० राय चौधरी की राय है कि – "आधुनिक कुछ लेखकों ने यह लिखकर एक साधारण भूल की कि ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध असंतोष की भावना फैल जाने के कारण, जैन धर्म की उत्पत्ति हुई। इस गलत धारणा का सूत्रपात इसलिए हुआ कि इन्होंने वर्द्धमान महावीर को जैन धर्म का प्रवर्तक मान लिया। यह तथ्य ठीक नहीं है।......जैन धर्म की उत्पत्ति एवं प्रसार पहले से ही हो चुका था और महावीर ने इसका अत्यधिक प्रचार किया था और यही कारण है कि इस प्रकार की गलत धारणा कई ख्याति प्राप्त विद्वानों से हो गई[3]।"

तीर्थंकर भगवान महावीर ने तो जैन धर्म की स्थापना की ही नहीं, प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने भी जैन धर्म की स्थापना नहीं की है। भगवान धर्म की स्थापना नहीं करते, वरन् धर्म का आश्रय लेकर आत्मा, परमात्मा (भगवान) बनता है। जैन मान्यतानुसार भगवान अनन्त होते हैं, पर भरत क्षेत्र में एक युग में तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर भगवान तो नियम से होते हैं, पर प्रत्येक भगवान तीर्थंकर नहीं। तीर्थंकर हुए बिना भी भगवान बना जा सकता है।

---

[1] तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ १५
[2] जैन धर्म, पृष्ठ ११
[3] महावीर जयन्ती स्मारिका १९६८, पृष्ठ १२८

सर्वकाल और सर्वक्षेत्रों की अपेक्षा तीर्थंकर भगवान भी अनन्त होते हैं। तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से भी पहले अनन्त तीर्थंकर भगवान हो गये हैं एवं विदेहादि अन्य क्षेत्रों में होते रहते हैं। इस तथ्य को समझने के लिए भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित कालचक्र को समझना होगा।

कालचक्र

यद्यपि द्रव्यदृष्टि से यह जगत नित्य है तथापि पर्यायदृष्टि से परिणमनशील भी है। जगत में कोई प्रच्छन्न ईश्वरीय शक्ति ऐसी नहीं है जो उस परिणमन की नियामक हो, फिर भी यह परिणमन अव्यवस्थित नहीं है। व्यवस्था है, पर व्यवस्थापक नहीं। नियम हैं, पर नियन्ता नहीं। अपने-अपने परिणमन का नियामक प्रत्येक द्रव्य स्वतः ही है। कालद्रव्य तो उसके परिणमन में निमित्त-मात्र है।

समय अपने को दुहराता है, यह एक प्राकृतिक नियम एवं वैज्ञानिक व्यवस्था है। जिस प्रकार दिन-रात, पक्ष-मास, ऋतुयें और वर्ष अपने को दुहराते हैं; उसी प्रकार शताब्दियाँ, सहस्राब्दियाँ आदि तथा संख्यातीत काल भी किन्हीं प्राकृतिक नियमों के द्वारा अपने को दुहराते हैं। कालचक्र के इस परिवर्तन में स्वाभाविक उतार-चढ़ाव आते हैं जिन्हें जैन परिभाषा में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के नाम से जाना जाता है। जहाँ उत्सर्पिणी क्रमशः विकास की प्रक्रिया है, वहाँ अवसर्पिणी क्रमशः ह्रास की प्रक्रिया है। उत्सर्पिणी में प्राणियों के बल, आयु और शरीरादि का प्रमाण क्रमशः बढ़ता जाता है और अवसर्पिणी में उसी क्रम से घटता जाता है। इस प्रकार यदि उत्सर्पिणी बढ़ने का नाम है तो अवसर्पिणी घटने का। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों में प्रत्येक का काल दस-दस कोड़ाकोड़ी सागर है। इस प्रकार कुल मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। प्रत्येक कल्पकाल में तीर्थंकरों की दो चौबीसी होती हैं। अवसर्पिणी काल के छह भेद हैं–(१) सुखमा-सुखमा (२) सुखमा (३) सुखमा-दुःखमा (४) दुःखमा-सुखमा (५) दुःखमा (६) दुःखमा-दुःखमा।

जैनागम का गहन अध्ययन अपेक्षित है। उन सबका वर्णन करना यहाँ अप्रासंगिक होगा।

यद्यपि इस अवसर्पिणी काल की दृष्टि से तीर्थंकर भगवान महावीर भरतक्षेत्र के चौबीसवें व अन्तिम तीर्थंकर हैं तथापि समग्रतः विचार करने पर न तो उन्हें किसी निश्चित संख्या का कहा जा सकता है और न ही अन्तिम, क्योंकि "कालो ह्ययं निरवधि विपुला च पृथ्वी[1]।" काल सीमातीत है और पृथ्वी बहुत बड़ी है।

प्रथम, द्वितीय, तृतीय काल में क्रमशः उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था रहती है, उसमें भोगों की ही प्रधानता रहती है। सबको सभी प्रकार की भोग-सामग्री कल्पवृक्षों के माध्यम से सहज उपलब्ध रहती है। जीवन लौकिक दृष्टि से आनन्दमय होने पर भी आध्यात्मिक दृष्टि से उनके विकास का मार्ग एक प्रकार से अवरुद्ध ही रहता है। चतुर्थकाल में कर्मभूमि का आरंभ होता है। भोगों की सहज उपलब्धि क्रमशः समाप्त होने लगती है और आजीविका प्रयत्न-साध्य एवं क्रमशः श्रम-साध्य होती जाती है, किन्तु आध्यात्मिक उन्नति के अवसर का द्वार खुल जाता है। तृतीयकाल के अन्त में होने वाले चौदह कुलकर सर्वसाधारण को कर्मभूमि की व्यवस्था में प्रशिक्षित करते हैं। इस अवसर्पिणी काल के चौदहवें कुलकर राजा नाभिराय थे। इन तक आते-आते तृतीय काल समाप्तप्राय: था और भोगभूमि क्रमशः कर्मभूमि के रूप में व्यवस्थित होने लगी थी।

ऋषभदेव

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म अयोध्या नगरी में वहाँ के राजा चौदहवें कुलकर नाभिराय की रानी मरुदेवी के गर्भ से हुआ था। वे जन्म से ही विलक्षण प्रतिभा के धनी इक्ष्वाकुवंशी थे। नाभिराय के बाद वे राजगद्दी पर बैठे। उन्होंने अपने राज्यकाल में अनेक जनोपयोगी कार्यों के साथ-साथ प्रजा को असि, मसि, कृषि, विद्या,

---

[1] मालतीमाधव : महाकवि भवभूति

वाणिज्य और शिल्प—इन षट्कर्मों से आजीविका चलाना सिख[illegible] क्योंकि उस समय भोगभूमि समाप्त हो जाने से कल्पवृक्षों के न[illegible] के कारण आजीविका सहज न रह गई थी। आजीविका उत्प[illegible] हो जाने से संघर्ष की स्थिति टालने के लिए व्यवस्था आवश्यक हो ग[illegible] थी। कर्मभूमि के प्रारंभ होने से तत्सम्बन्धी समस्त व्यवस्था प्र[illegible] में राजा ऋषभदेव के द्वारा स्थापित हुई। यही कारण है कि [illegible] प्रजापति, ब्रह्मा, विधाता, आदिपुरुष आदि नामों से भी पु[illegible] गया है।[1]

राजकुमार ऋषभदेव ने विवाह भी किया था, उनकी दो रानियाँ (पत्नियाँ) थीं – यशस्वती और सुनन्दा। यशस्वती का दूसरा नाम नन्दा भी था। राजा ऋषभदेव के १०१ पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। रानी यशस्वती से भरतादि सौ पुत्र और ब्राह्मी नामक पुत्री एवं सुनन्दा से बाहुबली नामक पुत्र एवं सुन्दरी नामक पुत्री उत्पन्न हुई थीं।

एक ओर जहाँ उन्होंने अपने भरतादि पुत्रों को युद्ध आदि कठोर विद्याओं में पारंगत किया वहाँ ब्राह्मी और सुन्दरी बेटियों को क्रमशः अक्षर (लिपि) एवं अंक विद्या सिखाई। प्राचीन शिलालेखों की लिपि को आज भी ब्राह्मी लिपि कहा जाता है। इसका कारण ऋषभदेव द्वारा उक्त विद्या को सर्वप्रथम ब्राह्मी नामक बेटी को सिखाना था, उसी के नाम से लिपि का नामक ब्राह्मी लिपि चल पड़ा। ब्राह्मी लिपि के संदर्भ में डॉ० रामधारीसिंह 'दिनकर' ने लिखा है :—

"द्राविड़ भाषाओं की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से निकली हैं।"... दक्षिण भारत में प्रचलित जैन परम्परा के अनुसार ब्राह्मी ऋषभदे[illegible]

---

[1] प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।।
— स्वयंभू स्तोत्र : आ० समन्तभद्र

ी बड़ी पुत्री थी । ऋषभदेव ने ही अठारह प्रकार की लिपियों का आविष्कार किया जिनमें से एक लिपि कन्नड़ हुई[1] ।"

यद्यपि विद्या शब्द बहुत व्यापक है, विद्याध्ययन के क्षेत्र में अक्षर और अंक विद्या के अतिरिक्त अनेक विद्याएँ आ जाती हैं, तथापि आज विद्याध्ययन से अंक और अक्षर विद्या के माध्यम से सीखी जाने वाली विद्याएँ ही ली जाती हैं । इनको जानने वाले को ही आज शिक्षित कहा जाता है । इनको न जानने वाला इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विद्याओं में निपुण हो, फिर भी उसे अशिक्षित ही कहा जायगा । शिक्षा का अर्थ ही अंक विद्या और अक्षर विद्या हो गया है । इस शिक्षा के क्षेत्र में नारी समाज आज भी पिछड़ा हुआ है । यद्यपि इन वर्षों में नारी शिक्षा का बहुत प्रचार व प्रसार हुआ है तथापि अभी वह स्थिति नहीं आई है जो पुरुषों की है । ५०-६० वर्ष पूर्व तो और भी विचारणीय स्थिति थी । लाखों में कोई एकाध महिला शिक्षित मिल जावे तो सौभाग्य माना जाता था । नारियों का काम पढ़ना-लिखना नहीं है, इस विचारधारा ने महिलाओं में अशिक्षा के प्रचार-प्रसार में बहुत योग किया है । ऋषभदेव ने अपनी पुत्रियों को ही सर्वप्रथम उक्त विद्याएँ सिखाई । उक्त तथ्य से जैन धर्म का दृष्टिकोण नारी शिक्षा के प्रति क्या है, स्पष्ट हो जाता है ।

एक दिन (चैत्र कृष्ण नवमी) राजा ऋषभदेव सैंकड़ों राजाओं से घिरे राजसिंहासन पर आरूढ़ थे एवं सर्वांग-सुन्दरी अप्सरा नीलांजना का नृत्य चल रहा था । उसके मनोहारी नृत्य को देखकर ऋषभदेव सहित समस्त सभासद मुग्ध हो रहे थे, तभी अचानक देवांगना की आयु समाप्त हो गई । उसके दिवंगत होते ही इन्द्र ने तत्काल उसी के सदृश अन्य देवांगना का नृत्य प्रारंभ करा दिया । यद्यपि यह सब इन्द्र ने इतनी शीघ्रता एवं चतुराई से किया कि किसी को पता भी न चला किन्तु यह सब सूक्ष्मदर्शी राजा ऋषभदेव की

---

[1] संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४४

[illegible]

यह जानकर लौकान्तिक देव प्रसन्न हुए और उन्होंने भगवान् के इस पवित्र विचार की भरपूर अनुमोदना की। यद्यपि परिवार के पुरजनों ने बहुत अनुनय-विनयपूर्वक आग्रह किया, पर दृढ़मना ऋषभदेव को कोई उनके संकल्प से विचलित न कर सका। अन्ततोगत्वा भरत को अयोध्या का और बाहुबली को पोदनपुर का राज दे, सिद्धों को नमस्कार कर, राजा ऋषभदेव मुनिराज हो गये।

उनके साथ कच्छादि चार हजार राजाओं ने भी दिगम्ब[illegible] दीक्षा धारण कर ली। बाकी राजाओं को अन्तर की पकड़ तो थी नहीं, वे तो उनके साथ भावुकतावश दीक्षित हो गये थे। मुनिरा[illegible] ऋषभदेव ध्यानस्थ हुए तो छह माह तक ध्यान में ही खड़े रहे। उ[illegible] जैसी धीरता-वीरता अन्य वेषधारी साधुओं के कहाँ थी! वे भूख-प्या[illegible] से आकुल-व्याकुल होने लगे। ऋषभदेव तो मौन थे, अन्य साधु[illegible] को मार्गदर्शन करने वाला भी कोई नहीं था। वे ऋषभदेव से अनुम[illegible] लेकर तो साधु हुए नहीं थे। आत्मध्यान की तल्लीनता में उन्हें [illegible] इनका कोई ध्यान ही न था। वे लोग अन्ततोगत्वा अपनी-अप[illegible] कल्पनानुसार विभिन्न वेष धारण कर कंद-मूल भक्षणादि के द्वा[illegible] अपनी क्षुधा को शान्त करने लगे।

इस प्रकार सद्धर्म एवं सद्-साधुता के साथ कुधर्म और कु-साधुता का भी आरंभ हो गया। भोगभूमि में तो सभी जीव मरकर देव ही होते थे किन्तु कर्मभूमि के आरंभ होते ही जहाँ मुक्ति का मार्ग आरंभ हुआ वहीं चतुर्गति का मार्ग भी खुल गया। उन चार हजार भ्रष्ट साधुओं में भरत चक्रवर्ती का पुत्र मारीचि भी था जो बहु[illegible] अच्छी-बुरी योनियों में भ्रमण करता हुआ अन्त में जाकर तीर्थंकर महावीर हुआ।

छह माह बाद जब मुनिराज ऋषभदेव का ध्यान भग्न हुआ तब
: आहार के लिए निकले किन्तु कर्मभूमि का प्रारंभ होने से कोई भी
व्यक्ति मुनिराज को आहार देने की विधि नहीं जानता था। सात
माह नौ दिन तक उन्हें आहार प्राप्त न हो सका। इस प्रकार एक वर्ष
एक माह नौ दिन के बाद मुनि अवस्था में सर्वप्रथम उनका आहार
हस्तिनापुर नगर में राजा सोमप्रभ के भाई श्रेयांस के हाथ से हुआ।
उन्हें जातिस्मरण के द्वारा पूर्व भव में दिये गये मुनिराजों के आहार
का स्मरण हो गया था, जिससे उन्हें आहार की विधि ज्ञात हो गई
थी। आहार वैसाख सुदी तृतीया के दिन हुआ था। उसी दिन से
इस दिन को अक्षय तृतीया पर्व के रूप में मनाया जाने लगा। इस
प्रकार इस युग के धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव एवं दानतीर्थ
के प्रवर्तक राजा श्रेयांस हुए।

मुनिराज ऋषभदेव एक हजार वर्ष तक बराबर मौन आत्म-
साधनारत अन्तर्बाह्य घोर तपश्चरण करते रहे। एक दिन आत्म-
लीनता की दशा में उन्हें केवलज्ञान (पूर्णज्ञान) की प्राप्ति हुई। इन्द्र
ने आकर उनकी धर्म-सभा (समवशरण) की व्यवस्था की। भरत के
छोटे भाई वृषभसेन ऋषभदेव के मुख्य गणधर बने। उनकी पुत्रियों
ब्राह्मी व सुन्दरी ने भी आर्यिका के व्रत ग्रहण कर लिए और गणिनी
पद प्राप्त किया। वे चार हजार राजा जो ऋषभदेव के साथ दीक्षित
होकर फिर भ्रष्ट हो गये थे, उनमें से अधिकांश ने अपनी गलती सुधार
कर भगवान ऋषभदेव से पुनः दीक्षा ग्रहण कर ली; किन्तु मारीचि
ने कषायवश अपनी भूल न सुधारी और नया मत स्थापित कर
भगवान ऋषभदेव का विरोध करने लगा।

अन्त में भगवान ऋषभदेव आयु की समाप्ति पर अन्तिम देह
का भी परित्याग कर कैलाश पर्वत से मोक्ष पधारे। इस अवसर्पिणी
काल के प्रथम तीर्थंकर होने से इन्हें भगवान आदिनाथ भी कहा
जाता है।

को निराकार ही नहीं, ध्यान में ऐसे मग्न हुए कि पूरे [illegible]
[illegible] प्राप्त करने के पूर्व हिले भी नहीं, और ही एक वर्ष [illegible]
एक वर्ष तक ध्यानमुद्रा में ही खड़े रहे। शरीर में उनके बेलें
चढ़ गईं, उनके चरण [illegible] से आवेष्टित हो गये, पर उन्हें उस
का पता ही नहीं था, उनकी तपश्चर्या पुराणप्रसिद्ध है। [illegible]
हुई उनकी विशाल ५७ फुट उत्तुंग पाषाण प्रतिमा श्रवणबेलगोल
(मैसूर) में स्थित है। उक्त पाषाण प्रतिमा भारत में इतनी लोक-
है कि उसकी अनुकृति के रूप में हजारों प्रतिमाएँ समस्त भा-
के जिनालयों में स्थापित हैं और प्रतिवर्ष स्थापित की जाती हैं।

भरत और बाहुबली के संघर्ष की बड़ी ही रोचक कथा पु-
में आती है, जो इस प्रकार है :—

भरत को चक्ररत्न की प्राप्ति हुई और वे भरतक्षेत्र के छहों
जीतने को निकले। यद्यपि उनकी दिग्विजय यात्रा सकुशल स-
हुई तथापि चक्ररत्न अयोध्या के द्वार पर ही रुक गया। उसने अयोध्य-
में प्रवेश नहीं किया। इसके कारणों की खोजबीन हुई तब पत-
चला कि चक्ररत्न सम्पूर्ण छह खण्ड को आधीन किए बिना अन्द-
प्रवेश नहीं करता। ऐसा कौन है जिसने सम्राट भरत की आधीनता
न मानी हो? चारों ओर दृष्टि घुमाने पर पता चला कि और तो
कोई बाकी नहीं रहा, मात्र सम्राट के अनुजों को छोड़कर। सम्राट
भरत की आधीनता स्वीकार करने के लिए समस्त भाइयों के पास
राजदूत भेजे गये। प्रायः सभी को सम्राट भरत का उक्त प्रस्ताव
अनुचित लगा।

बाहुबली को छोड़कर अन्य सभी भाइयों को तो संसार की
स्वार्थपरता देख वैराग्य हो गया और उन्होंने जाकर ऋषभदेव के
पास दिगम्बरी दीक्षा धारण करली, किन्तु बाहुबली ने दूत से कहा
कि छोटा भाई बाहुबली बड़े भाई भरत के सामने झुक सकता है,
पर राजा बाहुबली महाराजा भरत के सामने नहीं। यदि उन्हें शक्ति
का गर्व है तो मैं उसके परीक्षण के लिए तैयार हूँ। फिर क्या था,

ड़े ही दिनों में दोनों की सेनायें ग्रामने-सामने थीं। दोनों के बुद्धिमान मंत्रियों ने समझाने का बहुत प्रयत्न किया। सफलता न मिलने पर उन्होंने परस्पर विचार किया कि ये तो दोनों ही महाबली चरमशरीरी हैं, इनका तो कुछ बिगड़ने वाला नहीं है, क्यों व्यर्थ ही दोनों ग्रोर की सेनाग्रों का रक्तपात किया जाय ? दोनों ग्रोर के मंत्रियों ने मिलकर उनसे विनम्रतापूर्वक आग्रह किया कि क्यों न आप दोनों ही अपना शक्ति परीक्षण कर लें, व्यर्थ में ही सेनायें क्यों कटें ? दोनों को ही प्रस्ताव स्वीकृत हो गया ग्रौर फिर तीन प्रकार की युद्ध प्रतियोगिताएँ निश्चित हुईं – दृष्टि युद्ध, जल युद्ध ग्रौर मल्ल युद्ध।

बाहुबली शारीरिक दृष्टि से भरत से बलिष्ठ भी थे ग्रौर उन्नत-काय भी। ग्रतः वे तीनों ही युद्धों में ग्रपराजेय रहे। पराजय का ग्रपमान भरत सह न सके, वे क्रोधावेश में ग्रा गये ग्रौर उन्होंने मर्यादा का उल्लंघन कर बाहुबली पर चक्र चला दिया, फिर भी बाहुबली ग्रक्षत एवं ग्रपराजित रहे। किन्तु यह देख बाहुबली को संसार, विषय ग्रौर भोगों से सहज वैराग्य हो गया। उन्होंने सब कुछ त्यागकर दिगम्बरी दीक्षा स्वीकार करली। सम्राट भरत हारकर भी चक्रवर्ती बन गए।

भरत के समस्त भाई-बहिन दीक्षित हो गए। यद्यपि भरत षट्खण्ड का राज्य करते हुए घर में ही रहे तथापि उनका गार्हस्थ जीवन भी अपूर्व एवं अनुकरणीय था। उनके गार्हस्थ जीवन को लोक-जीवन में इस प्रकार गाया जाता है :–

भरतजी घर ही में वैरागी।
वे तो ग्रन्न-धन सबके त्यागी ।। भरतजी० ।। टेक ।।
कोड़ ग्रठारह तुरंग हैं जाके, कोड़ चौरासी पागी।
लाख चौरासी गज, रथ सोहैं तो भी भये नहिं रागी ।।भरतजी०।।
तीन करोड़ गोकुल घर सोहैं, एक करोड़ हल साजै।
नव निधि रत्न चौदह घर जाके, मनवांछा सब भागी ।।भरतजी०।।

' की विशेष जानकारी के लिए जैन पुराणों का अनुशीलन ा चाहिए।

कामदेव से तात्पर्य है सर्वांग-सुन्दर शरीर के धारी महापुरुष। ी चौबीस होते हैं।

यद्यपि इन तीर्थंकरों के चक्रवर्ती होने के कारण कथानक में विशेषताएँ होने से विशिष्ट वर्णन संभव था, किन्तु ऋषभदेव के रित्र के साथ ही उनके प्रथम पुत्र भरत के चक्रवर्ती होने से चक्रवर्ती बन्धी समस्त वर्णन भी वहीं हो जाता है; अतः यहाँ भी पुनरुक्ति संभावना बनी रहती है।

बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के समय में भारतीय साहित्य में र्वाधिक चर्चित महापुरुष राम और लक्ष्मण हुए हैं। जैन न्यतानुसार राम तीर्थंकर न थे, फिर भी जैन साहित्य में उनका कन सर्वाधिक हुआ है। कई तीर्थंकर ऐसे हैं जिन पर स्वतंत्र रूप से ोई पुराण या महाकाव्य नहीं मिलेगा, किन्तु राम के जीवन को चर्चित रने वाले अनेक पुराण और काव्य प्राप्त होंगे। इसमें सबसे बड़ा ारण राम के चरित्र की विविधता है। जीवन का कोई भी ऐसा ग नहीं है जिस पर राम का चरित्र प्रकाश न डालता हो। राष्ट्रकवि थिलीशरण 'गुप्त' का यह कथन शत-प्रतिशत सत्य है :–

"राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
चाहे जो बन जाय कवि संभाव्य है[१]।"

जैन मान्यतानुसार राम और लक्ष्मण त्रेसठ शलाका के महापुरुषों आते हैं। राम बलभद्र थे और लक्ष्मण नारायण। रावण को तिनारायण माना गया है। हनुमान की गणना कामदेवों में की ई है। राम और हनुमान दोनों ने ही जीवन के अन्त में नग्न-दिगम्बरी ीक्षा धारण कर पूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण वीतरागता प्राप्त की थी। तीर्थंकर नहीं, पर तीर्थंकर भगवानों जैसे ही पूज्य हैं, उनकी

साकेत, मुखपृष्ठ

घोर हर्ष का वातावरण था। सखियों के मध्य उनकी प्रसंगा-
: स्वाभाविक छेड़छाड़ में भी, ऊपर में गंभीर किन्तु अन्तर में
त राजुल भी, बड़ी उत्सुकता से बरात-आगमन की प्रतीक्षा में थी।
कुमार के शुभ संयोग की सुखद कल्पनाओं में मग्न राजुल सब
भूल रही थी।

तभी शान्त सागर में प्रलयंकारी तूफान के समान यह समाचार
ा कि वध हेतु प्रतिबंधित पशुओं की मूक पुकार से द्रवित हो
नकुमार के अतिसूक्ष्म राग-तन्तु भी टूट गये हैं। वे वैरागी हो
हैं। उन्होंने शादी नहीं करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। वे
न को तोड़कर गिरनार की ओर चल पड़े है। उनका राग विराग
बदल गया है। माता-पिता, धन-धान्य राज्यादि समस्त बाह्य
रग्रह एवं राग-द्वेषादि अंतरंग परिग्रह का पूर्णत: त्यागकर वे नग्न
ाम्बर साधु हो गये हैं।

क्षण भर में ही यह समाचार सर्वत्र फैल गया। नेमिकुमार को
टाने के अनेक प्रयत्न किये गये, पर सब व्यर्थ ही रहे। लोकान्तिक
ों ने आकर उनके मंगलमय कार्य की सराहनापूर्ण अनुमोदना की।
ी नागरिकों एवं देवों ने आकर सोत्साह दीक्षा-कल्याणक का
सव किया। समस्त वातावरण ही बदल गया। रागमय वैवाहिक
तावरण वैराग्यमय हो गया।

राजुल का मन भी बदल गया। उसने भी आत्म-साधना का
ार्ग अपनाया। वह भी उन्हीं के पग-चिन्हों पर गिरनार की ओर बढ़
ई। सारा नगर ठगा-सा देखता रह गया। बराती वधू लेने आये थे,
र खोकर चले गये। राजा उग्रसेन अपनी प्रिय राजदुलारी को पालकी
बिठाकर राजमहलों में भारी दान-दहेज के साथ भेजना चाहते थे,
र सब पड़ा रहा, वह तो सफेद साड़ी में गिरनार की ओर बढ़ गई।
न्होंने अपने जामाता को देने के लिए अनेक बेशकीमती वस्त्राभूषण
यार कराये थे, किन्तु वे तो तन के भी वस्त्र त्यागकर नग्न हो

भारत में जूनागढ़ के निकट है। वैदिक बंधु भी इस तीर्थ-स्थल को दत्त मन्दिर मानते हैं। यह नेमिनाथ की निर्वाण-भूमि ही नहीं, तपोभूमि भी है। राजुल ने भी यहीं तपस्या की थी। श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्नकुमार और शम्बुकुमार भी यहीं से मोक्ष गये हैं। प्रद्युम्नकुमार कामदेव थे।

पार्श्वनाथ

तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ निर्वैरवृत्ति के सर्वोत्तम प्रतीक हैं। उनके पूर्व-जन्मों की कथा में वर्णित दशभवों तक वैर रखने वाले कमठ की क्रूरता एवं उसके प्रति पार्श्वनाथ की निर्वैर परिणति अपने आप में अहिंसा की चरम उपलब्धि है।

आज से करीब तीन हजार वर्ष पूर्व इक्ष्वाकु वंश के काश्यप-गोत्रीय वाराणसी नरेश अश्वसेन के यहाँ उनकी विदुषी पत्नी वामादेवी के उदर से पौष कृष्णा एकादशी के दिन एक महान् तेजस्वी अपूर्व बालक का जन्म हुआ – जिसका नाम रखा गया था पार्श्वकुमार। बालक पार्श्वकुमार जन्म से ही प्रतिभाशाली, चमत्कृत बुद्धिनिधान, अनेक गुणगणों के धनी एवं विरक्त बालक थे। यद्यपि उन्हें भोग-सामग्री की कोई कमी न थी, तथापि उनके लिए उनके हृदय में कोई स्थान न था। वैभव की छाया में पलने पर भी जल में रहने वाले कमल के समान वे उससे अलिप्त ही थे। युवा होने पर माता-पिता ने बहुत प्रयत्न किये, पर उन्हें विवाह करने को राजी न कर सके।

वे आत्मज्ञानी तो जन्म से थे ही, उनका मन भी सदा संसार से उदास रहता था। एक दिन प्रातःकाल वे अपने साथियों के साथ घूमने जा रहे थे। रास्ते में वे देखते हैं कि उनके नाना साधुवेश में पंचाग्नि-तप तप रहे हैं। जलती हुई अग्नि के बीच एक नाग-नागिनी का जोड़ा था, वह भी जल रहा था। पार्श्वकुमार ने अपने दिव्यज्ञान (अवधिज्ञान) से यह सब जान लिया और उन्हें इस प्रकार के काम करने से मना किया, पर जब तक उस

तापसी को [illegible] उनकी बात माने नहीं । तापसी द्वारा ही लकड़ी के फाड़ने पर नाग-नागिनी निकले । पार्श्वकुमार ने उन नाग-नागिनी को संबोधित किया और वे मंदकषायपूर्वक मरकर धरणेन्द्र-पद्मावती हुए ।

इस हृदय विदारक घटना से पार्श्वकुमार का जीवन और वैराग्यमय हो गया और पौष कृष्णा एकादशी के दिन वे दिगम्बर साधु हो गए ।

एक बार एक समय मौनव्रतधारी वे पार्श्व मुनिराज अहिक्षेत्र के वन में ध्यानस्थ थे । उसी समय उनके पूर्व जन्म का शत्रु संवर नामक देव (कमठ का जीव) आकाश मार्ग से जा रहा था । उन्हें देखकर उसका पूर्व बैर जागृत हो गया और उसने मुनिराज पार्श्वनाथ पर घोर उपसर्ग किया । पानी बरसाया, ओले बरसाये, भयंकर तूफान चलाया और पत्थर तक बरसाये, पर वह उन्हें आत्म-साधना से डिगा न सका ।

जब संवर देव उन पर उपसर्ग कर रहा था तब धरणेन्द्र-पद्मावती ने उनके उपसर्ग को दूर करने का यत्न किया था । यद्यपि पार्श्वनाथ अपनी आत्म-साधना में पूर्ण सुरक्षित थे, उन्हें पर के सहयोग की रंचमात्र आवश्यकता एवं आकांक्षा नहीं थी और न ही किसी अन्य के सहयोग से उन्हें कोई लाभ ही हुआ; तथापि धरणेन्द्र-पद्मावती ने अपने विकल्पानुसार प्रयत्न किया था । उसी के प्रतीक स्वरूप भगवान पार्श्वनाथ की बहुत सी प्रतिमाओं में सर्प की फणावली बनी पाई जाती है । एक युग ऐसा आया कि जब इस प्रकार की बहुत सी मूर्तियाँ बनीं, पर वे बहुत प्राचीन नहीं हैं । शास्त्रीय दृष्टि से भी वे ठीक नहीं हैं क्योंकि मूर्ति अरहन्त अवस्था की मानी जाती है तथा अरहंत अवस्था में कोई उपसर्ग नहीं होता है, यह नियम है । उपसर्ग काल की मूर्ति मुनि पार्श्वनाथ की हो सकती है, भगवान पार्श्वनाथ की नहीं । इसी प्रकार बाहुबली की मूर्ति के संबंध में भी विचारणीय है । बेलों वाली मूर्ति मुनिराज बाहुबली की हो सकती है, अरहन्त भगवान बाहुबली की नहीं; किन्तु यह परम्परा चल पड़ी है और

चल रही है। भारत भर में किसी भी मंदिर में फरण वाली भगवान पार्श्व-नाथ की एवं बेलों वाली बाहुबली की प्रतिमाएँ देखी जा सकती हैं।

मुनिराज पार्श्वनाथ को चैत्र कृष्णा चतुर्दशी के दिन आत्म-तल्लीनता की दशा में केवलज्ञान की प्राप्ति हुई और वे भगवान पार्श्वनाथ बन गये। इसके बाद लगभग सत्तर वर्ष तक भारतवर्ष में उनका समवशरण सहित विहार और उपदेश होता रहा। अन्त में उन्होंने सौ वर्ष की आयु पूर्ण कर सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया। यही कारण है कि सम्मेदशिखर को 'पार्श्वनाथ हिल' कहा जाता है, रेल्वे स्टेशन का नाम भी पारसनाथ है। यह स्थान बिहार प्रान्त में हजारीबाग जिले में ईसरी के पास है। यह जैनियों का सबसे बड़ा तीर्थक्षेत्र है। यहाँ से चौबीस तीर्थंकरों में से बीस ने निर्वाण प्राप्त किया है। यहाँ लाखों यात्री प्रतिवर्ष यात्रा करने के लिए आते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान महावीर के पूर्व एक पूर्ण विकसित परम्परा विद्यमान थी। तीर्थंकर महावीर उसकी अंतिम कड़ी हैं, प्रारंभिक नहीं। इस अवसर्पिणी काल की धर्मरूपी मणि-हार की आदिनाथ (ऋषभदेव) प्रथम मणि हैं तो महावीर अंतिम, किन्तु आदिनाथ के पूर्व भी अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं और महावीर के बाद इसी भारत भूमि पर उत्सर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर महापद्म होने वाले हैं व तीर्थंकरों की यह परम्परा अनन्त काल तक चलने वाली है; अतः बौद्ध धर्म के संस्थापक बुद्ध के समान महावीर को जैन धर्म का संस्थापक मानना बहुत बड़ी भूल है।

भगवान महावीर ने धर्म की स्थापना नहीं की, उसका प्रचार व प्रसार किया है। उन्होंने धर्म का परिमार्जन (शुद्धिकरण) भी नहीं किया है। धर्म का कोई क्या परिमार्जन करेगा ? धर्म तो परिमार्जित ही होता है एवं विकारी आत्माओं का परिमार्जन करने वाला होता है। पर्यायदृष्टि से देखा जाये तो परिमार्जन ही धर्म है।

पूर्व भव

भगवान महावीर को समझने के लिए उनके मात्र वर्तमान भव (जन्म) को देखना पर्याप्त न होगा। उनको मात्र एक भव से समझना असंभव है क्योंकि उनकी आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया अनेक भवों में सम्पन्न हुई है, एक भव में नहीं। तीर्थंकर और भगवान बनने की प्रक्रिया महावीर के चरित्र के आधार पर समझने के लिए उनके कई पिछले भवों को जानना होगा।

तीर्थंकर महावीर के पूर्व भवों का अध्ययन इस दृष्टि से भी उपयोगी होगा कि सामान्य आत्मा किस प्रकार परमात्मा बनता है तथा परमात्मा बनने की सम्यक् प्रक्रिया के न समझने के कारण वह किस प्रकार भवचक्र में घूमता रहता है, दुखी होता रहता है।

भगवान महावीर ने अपने पूर्व भवों की परम्परा में जहाँ एक ओर अनेक स्वर्गों के साथ-साथ नारायण (अर्द्धचक्री) और चक्रवर्ती के पद प्राप्त किए, वहीं अनेक बार नरकों में अनन्त दुःख भोगने के साथ ही तिर्यंच की अनेक त्रस-स्थावर योनियों में भी भ्रमण किया। उनके पूर्व भवों की संक्षिप्त जानकारी के लिए कतिपय मुख्य भवों का दिग्दर्शन अपेक्षित है।

तीर्थंकर भगवान महावीर के पूर्व भवों का वर्णन जैन पुराणों में इस प्रकार पाया जाता है :—

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर किनारे पुष्कलावती देश में एक पुंडरीकिनी नाम की नगरी थी। उसके पास एक मधुक नामक वन था, जिसमें एक पुरुरवा नामक भीलों का राजा रहता था। उसकी पत्नी का नाम था कालिका।

उसी वन में एक सागरसेन नामक महान तपस्वी नग्न-दिगम्बर मुनिराज विचरण कर रहे थे। उनको भ्रमवश मृग समझकर मारने

के लिए उस भीलराज ने ज्योंही धनुष पर बाण चढ़ाया, त्योंही उसकी पत्नी ने हाथ पकड़कर रोकते हुए मृदुल शब्दों में कहा कि क्या कर रहे हो ? वह मृग नहीं, कोई वन-देवता विहार कर रहे हैं। मुनि हत्या के महादोष से बचकर वे दोनों पति-पत्नी मुनिराज के पास दर्शनार्थ गए। उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। उनसे धर्म श्रवणकर मद्य-मांसादि का त्याग किया। जीवनपर्यन्त आदरसहित व्रतों का निर्वाह करते हुए मरकर वह भीलराज सौधर्म नामक प्रथम स्वर्ग में देव हुआ।

वहाँ से आकर वह प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के बड़े पुत्र चक्रवर्ती सम्राट भरत के यहाँ मारीचि नामक पुत्र हुआ। उसने अपने पितामह ऋषभदेव के साथ ही दिगम्बरी दीक्षा धारण की, किन्तु ऋषभदेव के साथ दीक्षित कच्छादि चार हजार राजाओं के समान मुनिमार्ग से अपरिचित होने से, वह भी भ्रष्ट हो गया।

कच्छादि राजाओं की ऋषभदेव में पूर्णभक्ति थी, वे उनके अनुगमन पर ही दीक्षित हुए थे, उनके द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त न हो पाने के कारण ही वे भ्रष्ट हुए थे; अतः जब तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वनि खिरने लगी, उपदेश होने लगा, तब उनमें से अधिकांश ने अपनी भूल सुधारकर, उनके द्वारा बताया सन्मार्ग ग्रहण कर लिया; किन्तु मारीचि ने स्वतंत्र मत स्थापित किया। वह पारिव्राजक का वेष धारणकर ऋषभदेव के समान मत-प्रवर्तक बनने का प्रयत्न करने लगा। यद्यपि उसने मिथ्यात्व नामक महापाप का सेवन, प्रचार व प्रसार कर अपना भवभ्रमण बढ़ाया तथापि शुभभावपूर्वक मरण कर वह ब्रह्म नामक पांचवें स्वर्ग में देव हुआ।

आयु की समाप्ति पर वहाँ से चयकर वह साकेतनगर में कपिल नामक ब्राह्मण के यहाँ जटिल नामक पुत्र हुआ। वहाँ भी पूर्व-संस्कारवश पारिव्राजक साधु हुआ और मरकर प्रथम स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से आकर भारद्वाज ब्राह्मण के यहाँ पुष्यमित्र नामक पुत्र हुआ। वहाँ भी वही स्थिति रही और मरकर प्रथम स्वर्ग में देव

[illegible]
[illegible] माहेन्द्र नामक [illegible] स्वर्ग में देव हो गया।

वहाँ से चयकर वह राजगृह नगर में विश्वभूति नामक राजा के यहाँ विश्वनंदी नामक राजकुमार हुआ। राजा विश्वभूति के छोटे भाई का नाम विशाखभूति था और विशाखभूति के छोटे पुत्र का नाम विशाखनंद। शरद् ऋतु के बादलों को नष्ट होते देखकर राजा विश्वभूति को वैराग्य हो गया और वे अपने छोटे भाई विशाखभूति को राजपद तथा पुत्र विश्वनंदी को युवराज पद देकर नग्न-दिगम्बर साधु हो गये।

युवराज विश्वनंदी के पास एक मनोहर नाम का मनोहर उद्यान था, जो उसे बहुत प्रिय था। एक दिन वह अपनी प्रियाओं के साथ उस उद्यान में क्रीड़ारत था। क्रीड़ारत विश्वनंदी को देख विशाखनंद उस उद्यान को पाने का अभिलाषी हो अपने पिता राजा विशाखभूति के पास गया। उसने पिता से कहा उक्त उद्यान मुझे दिलाइये अन्यथा मैं देश छोड़कर चला जाऊँगा।

यद्यपि विशाखभूति इसको रंचमात्र भी उचित नहीं मानता था तथापि पुत्र मोह इस प्राणी से क्या-क्या बुरे कार्य नहीं कराता है? कैकई के पुत्र मोह ने ही तो राम जैसे योग्य व्यक्ति को वनवास

दिलाया था। पुत्र के मोह में अन्ध राजा विशाखभूति ने विश्वनंदी को छल से पर्वतीय उपत्यका में रहने वाले राजाओं के उपद्रवों को शान्त करने के बहाने युद्ध के लिए भेज दिया और मनोहर उद्यान को अपने पुत्र विशाखनंद को सौंप दिया।

जब पराक्रमी विश्वनंदी को यह पता चला तो उसे बहुत बुरा लगा। विशेषकर इस छल-प्रक्रिया पर वह क्रोधित हो उठा और विशाखनंद को पकड़ने के लिए ज्योंही दौड़ा त्योंही विशाखनंद भय से भागा और एक कैंथ के वृक्ष पर चढ़ गया। कुमार विश्वनंदी ने उस वृक्ष को ही उखाड़ डाला तो वह वहाँ से भागकर एक प्रस्तर स्तंभ (पत्थर का खंभा) के नीचे जा छिपा, पर विश्वनंदी ने उस स्तंभ को भी मुष्टिका प्रहार से चूर्ण कर डाला। किसी प्रकार हाथ-पैर जोड़कर विशाखनंद ने अपनी जान बचाई।

यद्यपि उसकी दीनता को देखकर विश्वनंदी ने उसे छोड़ दिया तथापि उक्त घटना ने उसके मानस को बदल डाला। उसका राग वैराग्य में बदल गया और वह सब घर-बार छोड़कर दिगम्बर साधु हो गया। राजा विशाखभूति अपने इस दुष्कर्म पर बहुत पछताया एवं परिणाम को देखकर दुःखी हुआ। वह भी संसार की असारता जान विरक्त हो गया। उसने भी दिगम्बर दीक्षा धारण करली।

मुनिराज विश्वनंदी अन्तर्बाह्य घोर तपश्चरण करते हुए अत्यन्त कृप-काय हो गये। महातपस्वी वे मुनिराज एक बार मथुरा नगर में आहार के लिए गये। मार्ग में तत्काल प्रसूता गाय की ठोकर लगने से वे गिर गये। वहीं सामने एक वेश्या के मकान से उनका चचेरा भाई विशाखनंद उन्हें देख रहा था। विशाखनंद अपनी पुरुषार्थ-हीनता, अन्यायवृत्ति एवं कुकर्मों के कारण राजभ्रष्ट हो, अन्यत्र दूतकार्य करने लगा था और कार्यवश मथुरा आया हुआ था। उसने मुनिराज विश्वनदी को पहचान लिया और उनका परिहास करते हुए व्यंग किया कि कहाँ गया तुम्हारा वह बल जिसने वृक्ष को उखाड़ डाला था एवं पत्थर की विशाल शिला को मुष्टिका प्रहार से ही तोड़

जाता था ? मुनिराज का चित्त भी उनके व्यंग-बाणों को सहन सका, कुपित हो गया। उन्होंने निदान किया उसके मारने का। अन्त में समाधिपूर्वक मरकर वे महाशुक्र नामक दसवें स्वर्ग में देव हुए।

वहाँ से आकर वे इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में पोदनपुर के राजा बाहुबली के वंश में उत्पन्न महाराजा प्रजापति की रानी मृगावती से महाप्रतापी त्रिपृष्ठ नामक पुत्र हुए, तथा उनके काका विशाखभूति का जीव उसी राजा प्रजापति की दूसरी रानी जयावती के उदर से विजय नामक पुत्र हुआ।

विजय प्रथम 'बलभद्र' थे और त्रिपृष्ठ प्रथम 'नारायण'। ग्यारहवें तीर्थंकर भगवान श्रेयांसनाथ का समय था। उस समय विजयार्द्ध पर्वत की उत्तरश्रेणी के अलकापुर नगर में मयूरग्रीव नामक विद्याधरों का राजा राज्य करता था। उसकी प्रिय पत्नी का नाम नीलांजना था। विशाखनन्द का जीव अपने पाप कर्मों के फलस्वरूप अनेक कुयोनियों में परिभ्रमण करता हुआ पुण्य-योग से उनके अश्वग्रीव नामक पराक्रमी पुत्र हुआ। वह प्रथम 'प्रतिनारायण' था। वह तीन खण्ड पृथ्वी को जीतकर 'अर्द्धचक्रवर्ती' हो गया था। त्रिपृष्ठ नारायण और अश्वग्रीव प्रतिनारायण में परस्पर भयंकर युद्ध हुआ था और निदान के अनुसार राजकुमार त्रिपृष्ठ अश्वग्रीव को मारकर अर्द्ध-चक्रवर्ती सम्राट हो गया।

सम्राट त्रिपृष्ठ विशाल विभूति का अधिपति था। उसके देवांगनाओं के समान सोलह हजार रानियाँ थीं। पूर्वपुण्य के प्रताप से सर्व प्रकार लौकिक अनुकूलता पाकर भी उसने आत्महितकारी धर्म की आराधना नहीं की। समस्त जीवन अनुशासन-प्रशासन, राज्य-व्यवस्था और भोगों में ही गंवा दिया। अन्त में मरकर सातवें नरक का नारकी हुआ। भोगमय जीवन का परिणाम इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था ?

वहाँ से निकलकर वह गंगा के किनारे सिंहगिरि नामक पर्वत अत्यन्त क्रूरपरिणामी सिंह हुआ। क्रूरता में ही जीवन बिताकर

मरा और प्रथम नरक में नारकी हुआ। वहाँ से निकलकर पुनः हिमवान पर्वत के शिखर पर देदीप्यमान केसर से सुशोभित सिंह हुआ। यह अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का पिछला दसवाँ भव था, जहाँ से उसका सुधार आरंभ होता है।

वह भयंकराकृति मृगराज अत्यन्त क्रूर एवं महाप्रतापी था। एक बार वह पैनी दाढ़ों वाला विकराल मृगराज मृग को मारकर उसे विदारण कर खा रहा था। उसी समय दो अत्यन्त शान्त, परम दयावान, चारण ऋद्धि के धारी मुनिराज आकाश मार्ग से उतरे और मृगराज को मृदुवाणी में इस प्रकार संबोधित करने लगे :–

हे मृगराज! आत्मा का अनादर कर तूने आज तक अनन्त दुःख उठाये हैं। क्षुद्र स्वार्थ के लिए जिस प्रकार तूने इस मृग को मार डाला है, उसी प्रकार पंचेन्द्रिय के भोगों की निराबाध प्राप्ति के लिए तूने अपने पूर्व भवों में बहुत हिंसा और क्रूरता की है। त्रिपृष्ठ नारायण के भव में तूने क्या-क्या भोग नहीं भोगे और क्या-क्या पाप नहीं किये? पर भोगाकांक्षा तो समाप्त नहीं हुई। परिणामस्वरूप सातवें नरक में गया और भयंकर दुःख भोगे। वहाँ से निकलकर शेर हुआ, वहाँ भी यही हालत रही। विचार कर! जरा तू अपने पूर्व भवों का विचार कर!!

मुनिराज के मृदुल संबोधन से उसका चित्त कुछ शान्त हुआ और उसने अन्तर में झाँकने का प्रयत्न किया कि उसे जातिस्मरण हो गया। उसे अपने पूर्व भव याद आ गये, उसकी आँखों में चित्रपट की भाँति सब दृश्य दिखाई देने लगे। उसका हृदय विगलित हो गया, उसकी आँखों से आँसू बहने लगे, शरीर काँपने लगा।

उसकी आँखों में पवित्र भक्ति एवं सहज जिज्ञासा देख मुनिराज ने उसे पुरुरवा भील के भव से लेकर अभी तक का सारा वृत्तान्त कहा तथा बताया कि तूने मारीचि के भव में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव जैसा संयोग पाकर भी मिथ्यात्व का पोषण किया, आत्मा का सही स्वरूप

डाला था ? मुनिराज का चित्त भी उनके व्यंग-बाणों को सह सका, चलित हो गया। उन्होंने निदान किया उनके मानमर्दन का अन्त में समाधिपूर्वक मरकर वे महाशुक्र नामक दसवें स्वर्ग में देव हुए।

वहाँ से आकर वे इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में पोदनपुर के राजा बाहुबली के वंश में उत्पन्न महाराजा प्रजापति की रानी मृगावती से महाप्रतापी त्रिपृष्ठ नामक पुत्र हुए, तथा उनके काका विशाखभूति का जीव उसी राजा प्रजापति की दूसरी रानी जयावती के उदर से विजय नामक पुत्र हुआ।

विजय प्रथम 'बलभद्र' थे और त्रिपृष्ठ प्रथम 'नारायण'। वह ग्यारहवें तीर्थंकर भगवान श्रेयांसनाथ का समय था। उस समय विजयार्द्ध पर्वत की उत्तरश्रेणी के अलकापुर नगर में मयूरग्रीव नामक विद्याधरों का राजा राज्य करता था। उसकी प्रिय पत्नी का नाम नीलांजना था। विशाखनंद का जीव अपने पाप कर्मों के फलस्वरूप अनेक कुयोनियों में परिभ्रमण करता हुआ पुण्य-योग से उनके अश्वग्रीव नामक पराक्रमी पुत्र हुआ। वह प्रथम 'प्रतिनारायण' था। वह तीन खण्ड पृथ्वी को जीतकर 'अर्द्धचक्रवर्ती' हो गया था। त्रिपृष्ठ नारायण और अश्वग्रीव प्रतिनारायण में परस्पर भयंकर युद्ध हुआ था और निदान के अनुसार राजकुमार त्रिपृष्ठ अश्वग्रीव को मारकर अर्द्ध-चक्रवर्ती सम्राट हो गया।

सम्राट त्रिपृष्ठ विशाल विभूति का अधिपति था। उसके देवांगनाओं के समान सोलह हजार रानियाँ थीं। पूर्वपुण्य के प्रताप से सर्व प्रकार लौकिक अनुकूलता पाकर भी उसने आत्महितकारी धर्म की आराधना नहीं की। समस्त जीवन अनुशासन-प्रशासन, राज्य-व्यवस्था और भोगों में ही गंवा दिया। अन्त में मरकर सातवें नरक का नारकी हुआ। भोगमय जीवन का परिणाम इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था ?

वहाँ से निकलकर वह गंगा के किनारे सिंहगिरि नामक पर्वत अत्यन्त क्रूरपरिणामी सिंह हुआ। क्रूरता में ही जीवन बिताकर

जाता था ? मुनिराज का चित्त भी उनके व्यंग-बाणों को सह न सका, चलित हो गया। उन्होंने निदान किया उनके मानमर्दन का। अन्त में समाधिपूर्वक मरकर वे महाशुक्र नामक दसवें स्वर्ग में देव हुए।

वहाँ से आकर वे इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में पोदनपुर के राजा बाहुबली के वंश में उत्पन्न महाराजा प्रजापति की रानी मृगावती से महाप्रतापी त्रिपृष्ठ नामक पुत्र हुए, तथा उनके काका विशाखभूति का जीव उसी राजा प्रजापति की दूसरी रानी जयावती के उदर से विजय नामक पुत्र हुआ।

विजय प्रथम 'बलभद्र' थे और त्रिपृष्ठ प्रथम 'नारायण'। यह ग्यारहवें तीर्थंकर भगवान श्रेयांसनाथ का समय था। उस समय विजयार्द्ध पर्वत की उत्तरश्रेणी के अलकापुर नगर में मयूरग्रीव नामक विद्याधरों का राजा राज्य करता था। उसकी प्रिय पत्नी का नाम नीलांजना था। विशाखनंद का जीव अपने पाप कर्मों के फलस्वरूप अनेक कुयोनियों में परिभ्रमण करता हुआ पुण्य-योग से उनके अश्वग्रीव नामक पराक्रमी पुत्र हुआ। वह प्रथम 'प्रतिनारायण' था। वह तीन खण्ड पृथ्वी को जीतकर 'अर्द्धचक्रवर्ती' हो गया था। त्रिपृष्ठ नारायण और अश्वग्रीव प्रतिनारायण में परस्पर भयंकर युद्ध हुआ था और निदान के अनुसार राजकुमार त्रिपृष्ठ अश्वग्रीव को मारकर अर्द्ध-चक्रवर्ती सम्राट हो गया।

सम्राट त्रिपृष्ठ विशाल विभूति का अधिपति था। उसके देवांगनाओं के समान सोलह हजार रानियाँ थीं। पूर्वपुण्य के प्रताप से सर्व प्रकार लौकिक अनुकूलता पाकर भी उसने आत्महितकारी धर्म की आराधना नहीं की। समस्त जीवन अनुशासन-प्रशासन, राज्य-व्यवस्था और भोगों में ही गंवा दिया। अन्त में मरकर सातवें नरक का नारकी हुआ। भोगमय जीवन का परिणाम इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था ?

वहाँ से निकलकर वह गंगा के किनारे सिंहगिरि नामक पर्वत पर अत्यन्त क्रूरपरिणामी सिंह हुआ। क्रूरता में ही जीवन बिताकर

मरा और प्रथम नरक में नारकी हुआ। वहाँ से निकलकर पुनः हिमवान पर्वत के शिखर पर देदीप्यमान केशर से सुशोभित सिंह हुआ। यह अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का पिछला दसवाँ भव था, जहाँ से उनका सुधार प्रारंभ होता है।

यह भयंकराकृति मृगराज अत्यन्त क्रूर एवं महाप्रतापी था। एक बार वह पैनी दाढ़ों वाला विकराल मृगराज मृग को मारकर उसे विदारण कर खा रहा था। उसी समय दो अत्यन्त शान्त, परम दयावान, चारण ऋद्धि के धारी मुनिराज आकाश मार्ग से उतरे और मृगराज को मृदुवाणी से इस प्रकार संबोधित करने लगे :–

हे मृगराज! आत्मा का अनादर कर तूने आज तक अनन्त दुःख उठाये हैं। क्षुद्र स्वार्थ के लिए जिस प्रकार तूने इस मृग को मार डाला है, उसी प्रकार पंचेन्द्रिय के भोगों की निराबाध प्राप्ति के लिए तूने अपने पूर्व भवों में बहुत हिंसा और क्रूरता की है। त्रिपृष्ठ नारायण के भव में तूने क्या-क्या भोग नहीं भोगे और क्या-क्या पाप नहीं किये? पर भोगाकांक्षा तो समाप्त नहीं हुई। परिणामस्वरूप सातवें नरक में गया और भयंकर दुःख भोगे। वहाँ से निकलकर शेर हुआ, वहाँ भी यही हालत रही। विचार कर! जरा तू अपने पूर्व भवों का विचार कर!!

मुनिराज के मृदुल संबोधन से उसका चित्त कुछ शान्त हुआ और उसने अन्तर में झांकने का प्रयत्न किया कि उसे जातिस्मरण हो गया। उसे अपने पूर्व भव याद आ गये, उसकी आँखों में चित्रपट की भांति सब दृश्य दिखाई देने लगे। उसका हृदय विगलित हो गया, उसकी आँखों से आँसू बहने लगे, शरीर काँपने लगा।

उसकी आँखों में पवित्र भक्ति एवं सहज जिज्ञासा देख मुनिराज ने उसे पुरुरवा भील के भव से लेकर अभी तक का सारा वृत्तान्त कहा तथा बताया कि तूने मारीचि के भव में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव जैसा संयोग पाकर भी मिथ्यात्व का पोषण किया, आत्मा का सही स्वरूप

न समझा, इस कारण तुझे इतना भव-भ्रमण करना पड़ा। ...
योनियों में अनन्त भव धारण करने पड़े किन्तु अब चिन्ता की
नहीं है, तेरे संसार का अन्त आ गया है, तू अब से दसवें भव में
भरतक्षेत्र का अन्तिम तीर्थंकर महावीर होने वाला है। यह सब
तीर्थंकर श्रीधर केवली भगवान की दिव्यध्वनि में सुना है।

यह सब सुनने पर थोड़ी देर बाद उसकी विह्वलता और
शान्त हुआ। आत्मा का अनुभव करने योग्य ज्ञान का विकास हो
ही, उसकी कषायें भी उपशान्त हुईं। आत्मस्वरूप की सन्
आत्मानुभूति प्राप्त करने की पात्रता उस मृगराज में मुनिरा
स्पष्ट देखी तो उनके मुखारविन्द से इस प्रकार के पावन
देशना निःसरित हुई :-

देह में विराजमान, पर देह से भिन्न एक चेतना तत्त्व है। य
उस चेतन तत्त्व में मोह-राग-द्वेष की विकारी तरंगें उठती रहत
तथापि यह ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व उनसे भिन्न परम पदा
जिसके आश्रय से धर्म प्रकट होता है। उस प्रगट होने वाले धर्म
सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र
अन्तर में प्रगट हो, इसके लिए परम पदार्थ ज्ञानानन्द स्व
ध्रुवतत्त्व की अनुभूति अत्यन्त आवश्यक है। उस अनुभूति क
आत्मानुभूति कहते हैं। वह आत्मानुभूति जिसे प्रकट हो गई, 'प
भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान जिसे हो गया, वह शीघ्र ही भव-
से छूट जायेगा। 'पर' से भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान ही भेद
है। यह भेदज्ञान और आत्मानुभूति सिंह जैसी पर्याय में भी उ
हो सकती है और उत्पन्न होती भी है। अतः हे मृगराज! तुझे
प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

हे मृगराज! तू पर्याय की पामरता का विचार मत
स्वभाव के सामर्थ्य की ओर देख। तू भी सिद्ध के समान अनन्तज्ञा
गुणों का पिण्ड है। ध्रुव स्वभाव के अवलम्बन से ही पर्याय में सा
प्रकट होती है। इतना ज्ञान तेरी वर्तमान पर्याय में भी प्रग

पर्याय की योग्यता का परिपाक एवं काललब्धि की प्राप्ति के साथ अनुकूल निमित्त के सद्भाव का ऐसा उदाहरण अन्यत्र देखने प्राप्त नहीं होता। ऊपर से देखने पर यही ऐसा लगता है कि चारण ऋद्धिधारी मुनिराजों के उपदेश से शेर को सद्धर्म की प्राप्ति हुई, किन्तु काललब्धि का परिपाक, भली होनहार, अनिवार्य अंतरंग आवश्यकतानुसार स्वभाव तथा शेर द्वारा किये गये अन्तरोन्मुखी के अपूर्व पुरुषार्थ की ओर सहज ध्यान नहीं जाता। मात्र उपदेश से ही सब कुछ हो जाता हो तो तीर्थंकर भगवान के समवसरण में उपदेश तो बहुत जीव सुनते हैं, सबका हित क्यों नहीं हो जाता? सबको सद्धर्म की प्राप्ति क्यों नहीं हो जाती? भगवान महावीर के जीव का हित मारीचि के भव में क्यों नहीं हो गया? क्या वहाँ सद्निमित्तों की कमी थी? पिता चक्रवर्ती सम्राट भरत, धर्मतीर्थ के आदि प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव बाबा और उनके साथ ही दीक्षा ग्रहण करने का भाव। भगवान ऋषभदेव के समवशरण में उनका उपदेश सुनकर तो उसने विरोध भाव उत्पन्न किया था। क्या उनके उपदेश में कोई कमी थी? क्या चारण ऋद्धिधारी मुनियों का उपदेश उनसे भी अच्छा था? इससे सिद्ध होता है कि जब उपादान की तैयारी हो तब कार्य होता ही है, और उस समय योग्य निमित्त भी होता ही है, उसे खोजने कहीं नहीं जाना पड़ता है। क्रूर शेर की पर्याय में घोर वन में उपदेश प्राप्ति की संभावना और अवसर कहाँ था? पर सिंह की पर्याय में उसका पुरुषार्थ जागा तो निमित्त आकाश से उतरकर आये।

अतः आत्मार्थी को निमित्तों की खोज में व्यग्र नहीं होना चाहिए। निमित्तों से कार्य नहीं होता, निमित्तों के बिना कार्य रुकता भी नहीं, पर स्थिति यह है कि जब कार्य होता है तब निमित्त भी सहजरूप से होता ही है। अज्ञानी जीवों की दृष्टि निमित्ताधीन होने से निरन्तर निमित्तों के जुटाने-हटाने के असफल प्रयासों में ही लगी रहती है।

अपने में है, पर में नहीं, परमेश्वर में भी नहीं; अतः दुःखों, परमेश्वर की ओर भी किसी आशा-आकांक्षा से झांकना निरर्थक है। तेरा प्रभु तू स्वयं है। तू स्वयं ही अनन्त सुख का भंडार है, तू स्वतन्त्र है, सुख ही है। सुख को क्या चाहना ? चाह ही दुःख है। पंचेन्द्रिय के विषयों में सुख है ही नहीं। चक्रवर्ती की संपदा पा भी यह जीव सुखी नहीं हो पाया। ज्ञानी जीवों की दृष्टि में चक्रवर्ती की सम्पत्ति की कोई कीमत नहीं है, वे उसे जीर्ण तृण के समान त्याग देते हैं और अन्तर में समा जाते हैं। अन्तर में जो अनन्त आनन्दमय महिमावंत पदार्थ विद्यमान है, उसके सामने बाह्य विभूति की कोई महिमा नहीं।

धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है। अतः आत्मार्थी को धर्म को जानते रहने के बजाय जीवन में उतारना चाहिए, धर्ममय हो जाना चाहिए।

जिनेन्द्र भगवान की सहज वैराग्योत्पादक एवं अन्तरोन्मुखी वृत्ति की प्रेरणा देने वाली दिव्य वाणी को सुनकर चक्रवर्ती प्रियमित्र का वैराग्य इस प्रकार जाग गया जिस प्रकार एक शेर की गर्जना सुनकर दूसरा शेर जाग जाता है। राज्य-सम्पदा, स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धी राग टूट गया। जिस धरती को वर्षों में दिग्विजय करके प्राप्त की थी, जिन पत्नियों का अनुरागपूर्वक पाणिग्रहण किया था; उन्हें ऐसे छोड़ दिया मानो उनसे उनका कोई संबंध ही न था, वे उनकी कोई थीं ही नहीं। जिस राग ने जमीन को जीता था, जिस राग ने राजकन्याओं को परणा था, जब वह राग ही न रहा, संयोजक ही न रहा, तो संयोग कैसे रहता ?

वह चक्रवर्ती सम्राट जिनेन्द्र भगवान की साक्षी में दीक्षित हो नग्न-दिगम्बर हो गया। रत्नत्रय को पाया तो चौदह रत्न छूट गये, अन्तरलीनता रूप चारित्र-निधि प्रगटी, फिर जड़निधियों से प्रयोजन न रहा। छह खण्ड की विभूति को तृण समान त्याग देने वाले मुनिराज ने जब समाधिपूर्वक देह छोड़ी तो सहस्रार नामक बारहवें

दिगम्बर कोई वेष नहीं है, सम्प्रदाय नहीं है; वस्तु का स्वरूप है। पर हम वेषों को देखने के इतने आदी हो गये हैं कि वेष के बिना सोच ही नहीं सकते। हमारी भाषा वेषों की भाषा हो गई है। अतः हमारे लिए दिगम्बर भी वेष हो गया है। हो क्या गया—कहा जाने लगा है। सब वेषों में कुछ उतारना पड़ता है और कुछ पहिनना होता है, पर इसमें छोड़ना ही छोड़ना है, ओढ़ना कुछ भी नहीं है। छोड़ना भी क्या उपचार है, छूटना है। अन्दर से सब कुछ छूट गया है, देह भी छूट गई है; पर बाहर से अभी वस्त्र ही छूटे हैं, देह छूटने में कुछ समय लग सकता है, पर वह भी छूटना है, क्योंकि उसके प्रति भी जो राग था वह टूट चुका है। देह रह गई है तो रह गई है, जब छूटेगी तब छूट जायेगी, पर उसकी भी परवाह छूट गई है।

महावीर मुनिराज वर्द्धमान नगर छोड़ वन में चले गये। पर वे वन में भी गये कहाँ हैं? वे तो अपने में चले गये हैं, उनका वन में भी अपनत्व कहाँ है? उन्हें वनवासी कहना भी उपचार है, क्योंकि वे वन में भी कहाँ रहे हैं? वे तो आत्मवासी हैं। न उन्हें नगर से लगाव है न वन से, वे तो दोनों से अलग हो गये हैं, उनका तो पर से अलगाव ही अलगाव है।

रागी वन में जायगा तो कुटिया बनायगा, वहाँ भी घर बसायगा, ग्राम और नगर बसायगा; भले ही उसका नाम कुछ भी हो, है तो वह घर ही। रागी वन में भी मंदिर के नाम पर महल बसायगा, महलों में भी उपवन बसायगा। वह वन में रहकर भी महलों को छोड़ेगा नहीं, महल में रह कर भी वन को छोड़ेगा नहीं।

पर महावीर तो बहुत कुछ वीतरागी हो गये थे। रहा-सहा राग भी तोड़कर पूर्ण वीतरागी बनने के पथ पर चल पड़े थे। उनके लिए वन और नगर में कोई भेद नहीं रहा था। सब कुछ छूट गया था, वे सब से टूट गये थे।

उन्होंने सर्वथा मौन धारण कर लिया था, उनको बोलने का भाव ही न रहा था। वाणी पर से जोड़ती है, उन्हें पर से जुड़ना ही न था। वाणी विचारों की वाहक है, वह परस्पर विचारों का

सेठानी सुभद्रा बाला चन्दना को खाने के लिए मिट्टी के स
मान कोदों का भात (कुटकी), वह भी कांजी मिली हुई देती थी
सदा सांकल से बांधकर रखती थी। चंदना अपने दुर्दिनों को दुष्क
परिपाक जानकर साम्यभावपूर्वक काट रही थी। इसके अति
कोई उपाय भी तो न था। करती भी क्या!

एक दिन मुनिराज वर्द्धमान वत्स देश की उसी कौश
नगरी में आहार के लिए आये जहाँ चन्दना बन्धन में थी। मुनि
उस मकान के सामने से निकले जिसमें चन्दना कैदी का सा जी
व्यतीत कर रही थी। चन्दना के तो भाग्य खुल गये। नग्न-दिग
मुनिराज को देखकर वह पुलकित हो उठी। मुनिराज की वन्दना
वह एकदम दौड़ पड़ी। वह भक्ति और भावुकता के उन क्षणों में
भूल ही गई थी कि 'मैं बंधी हुई हूँ'। वह तो ऐसे दौड़ी जैसे बंधी
न हो और लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा; वह सचमुच
बन्धन-मुक्त हो चुकी थी, उसकी बेड़ियाँ टूट चुकी थीं, उसके बन्ध
खुल चुके थे। उसके खण्डित केश अखण्डित हो गये थे। यह सब
कैसे हुआ, कुछ समझ में नहीं पड़ रहा था लोगों को। लोग अप
आश्चर्य को सहेज रहे थे और चन्दना वन्दना में लीन थी। उसे तो
निधि मिल चुकी थी। उसको ध्यान ही न रहा कि मैं प्रभु को भोजन के
लिए पड़गाहन तो कर रही हूँ, पर खिलाऊँगी क्या? क्या मिट्टी के
सकोरे में कोदों का भात खिलाऊँगी? उसने तो पड़गाहन कर ही लिया
और उनके योग्य आहार की सब समुचित व्यवस्था हो गई।

यह सब क्या हुआ? कैसे हुआ? सोचने वाले सोचते ही रहे और
वहाँ तो चन्दना के हाथ से प्रभु का आहार भी हो गया। आश्चर्यों के
निधान प्रभु वन को वापिस चले गये। चन्दना की वन्दना सफल हो गई,
उसके बन्धन कट गये। आगे चलकर यही चन्दना भगवान महावीर के
समवशरण में दीक्षित हो आर्यिकाओं में श्रेष्ठ प्रमुख गणिनी बनी।

वीर प्रभु की महिमा के साथ-साथ चन्दना के भाग्य की सराहना
भी सहज होने लगी। चौपालों में, चौराहों पर, यही चर्चा थी।

कोई कह रहा था – बन्धन तभी तक बन्धन है – जब तक बन्धन की अनुभूति है। यद्यपि पर्याय में बन्धन है, तथापि आत्मा तो अबन्ध-स्वभावी ही है। अनादिकाल से यह अज्ञानी प्राणी अबंध स्वभावी आत्मा को भूलकर 'बंधन' पर केन्द्रित हो रहा है। वस्तुतः बंधन की अनुभूति ही बंधन है। वास्तव में 'मैं बंधा हूँ' – इस विकल्प से यह जीव बंधा है। लौकिक बंधन से विकल्प का बंधन अधिक मजबूत है, विकल्प का बंधन टूट जावे तथा अबंध की अनुभूति सघन हो जावे तो बाह्य बंधन भी सहज टूट जाते हैं। बंधन के विकल्प से, स्मरण से, मनन से, दीनता-हीनता का विकास होता है। अबंध की अनुभूति से, मनन से, चिन्तन से शौर्य का विकास होता है; पुरुषार्थ सहज जागृत होता है – पुरुषार्थ की जागृति में बंधन कहाँ ? चन्दना की बंधन की विस्मृति ही बंधन के अभाव का कारण बनी।

दूसरा बोला – बंधन के रहते हुए बंधन की अस्वीकृति और अबंध की स्वीकृति कैसे सम्भव है ? बंधन है, उसे तो न माने और 'अबंध' नहीं है, उसे स्वीकारे, यह कैसे सम्भव है ? तीसरा कह उठा – सम्भव है। स्वीकारना तो सम्भव है ही, द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो वस्तु भी ऐसी ही है। बंधन तो ऊपर ही है, अन्तर में तो पूरी वस्तु स्वभाव से अबंध ही पड़ी है। उसे तो किसी ने छुआ ही नहीं, वह तो किसी से बंधी ही नहीं। स्वभाव में बंधन नहीं – उसे स्वीकार करने भर की देर है कि पर्याय के बंधन भी टूटने लगते हैं। स्वतन्त्रता की प्रबलतम अनुभूति बंधन के काल में संभव है, क्योंकि अन्तर में स्वतन्त्र तत्त्व विद्यमान है, पर्याय के बंधन काटने में भी वही समर्थ कारण है।

सम्पूर्ण जगत से सर्वथा निरीह वीतरागी संत मुनिराज वर्द्धमान विहार करते हुए उज्जैनी पहुँचे। वहाँ वे अतिमुक्त नामक श्मशान में प्रतिमायोग धारण कर ध्यानस्थ हो गये। पाप कला में अत्यन्त प्रवीण स्थाणुरुद्र ने वहाँ आकर उन पर घोर उपसर्ग किया। विद्या के बल से उसने अनेक भयंकर से भयंकरतम रूप बनाये और उन्हें विचलित करने का कई बार असफल प्रयास किया। उसने हिंसक

पशुओं के, भीलों के, राक्षसों के रूप में अनेकानेक उपद्रव किये।
इनको डराने-धमकाने में ही वीरता की सार्थकता समझने वाले
स्थाणुरुद्र ने वीरता की साक्षात् मूर्ति के दर्शन किए। उसने
अनुभव किया कि वीरता – निर्भयता और अहिंसा का नाम है।
वीरता हिंसा की पर्याय नहीं, अहिंसा का स्वरूप है। उसके उपद्रवों का
महावीर की साधना पर कोई असर ही न हुआ।

आत्म-साधनारत वीतरागी संतों के मन में अनुकूलताएँ और
[illegible] बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल संयोग आते ही नहीं। यदि आते भी हैं
तो उनके चित्त में कोई अंतर पैदा नहीं करते, मात्र ज्ञान के ज्ञेय
बनकर रह जाते हैं; क्योंकि वे तो अपनी और पर की परिणति को
जानते-देखते हुए वर्तते हैं। मुनिराज महावीर की अडिग ध्यान
अनेक संकटों के बीच भी निर्विकार-सौम्यमूर्ति और वीतरागी मुद्रा देख
स्थाणुरुद्र का क्रोध काफूर हो गया। वह सब निरखित अवाक्
विह्वल हो उनकी स्तुति करने लगा, अपने किए पर पछताने लगा।

'न काहू से दोस्ती न काहू से बैर' के प्रतीक मुनिराज महावीर को
इस परिवर्तन का भी कोई असर नहीं हुआ। वे तो अपने में मस्त थे।
वे अपने अनुरूप क्रिया कर रहे थे और स्थाणुरुद्र भी अपने अनुरूप
क्रिया कर रहा था। उससे उन्हें क्या लेना-देना था?

प्रत्येक द्रव्य की पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता है, उसका सत्तानुरूप परिणमन
उसके आधीन है, उसमें पर का कोई भी हस्तक्षेप नहीं है। जिस
प्रकार आत्मा अपने स्वभाव का कर्ता-भोक्ता स्वतन्त्र रूप से है, उसी
प्रकार प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव का कर्ता-भोक्ता भी स्वयं है। इस
रहस्य को गहराई से जानने वाले महावीर उससे सर्वथा निरीह रहे।

इस प्रकार मुनिराज महावीर निरन्तर वीतरागता की वृद्धिंगत
दशा को प्राप्त करते जा रहे थे। अन्तर्बाह्य घोर तपश्चरण करते हुए
उन्हें बारह वर्ष व्यतीत हो गये। बयालीस वर्ष की अवस्था में एक
दिन वे जृंभिका ग्राम के समीप ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर
नामक वन में पहुँचे। वहाँ पर साल वृक्ष के नीचे रत्नों के एक

दीप्यमान शिलापर प्रतिमायोग धारण कर विराजमान हो, ध्यानस्थ
ो गये । वह वैसाख शुक्ला दशमी का दिन और शाम का समय था ।
स्त और उत्तर नक्षत्र के मध्यभाग में चन्द्रमा आ गया था । उस
मय उन्होंने आत्मा के आश्रय से परिणामों की अत्यन्त शुद्ध दशा की
उपलब्धि की । अत्यन्त उग्र पुरुषार्थ के द्वारा अप्रतिपाती क्षपकश्रेणी
ा आरोहरण कर वे शुक्लध्यानस्थ हो गये । आत्मनिमग्नता की अत्यन्त
उग्रतम दशा के द्वारा अन्तर में विद्यमान सूक्ष्म राग का भी अभाव
र उन्होंने पूर्ण वीतराग दशा प्राप्त कर ली । पूर्ण वीतरागता प्राप्त
ोते ही अनन्तर समय में उन्हें पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) भी प्राप्त हो गया ।

अब वे पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ हो गये थे, अतः भगवान कहलाये ।
ोह-राग-द्वेषरूपी शत्रुओं को पूर्णतः जीत लेने से वे सच्चे महावीर बने ।
उसी समय तीर्थंकर नामक महापुण्योदय से उन्हें तीर्थंकर पद की प्राप्ति
हुई और वे तीर्थंकर भगवान महावीर के रूप में विश्रुत हुए । अब
तक वे मुनिराज वर्द्धमान थे और अब तीर्थंकर भगवान महावीर ।

सौधर्म इन्द्र को तत्काल विशेष चिह्नों से पता चला कि तीर्थंकर
महावीर को पूर्णज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है । उसने तत्काल आकर
बड़े ही उत्साह से केवलज्ञान-कल्याणक महोत्सव किया और भगवान
महावीर की पवित्र वाणी से सब लाभान्वित हो सकें, तदर्थ कुबेर को
आज्ञा दी कि शीघ्र समवशरण की रचना करो । तीर्थंकर की धर्मसभा
को समवशरण कहा जाता है ।

इन्द्र की आज्ञा पाकर कुबेर ने भगवान की धर्मसभा के निर्माण में
अपना सम्पूर्ण कला-वैभव लगा दिया । उसने शीघ्र ही एक गोलाकार
सभा-मण्डप की रचना की, जिसके बीच में भगवान के बैठने की
व्यवस्था थी । उसके चारों ओर बारह प्रकोष्ठ थे जिनमें श्रोताओं के
बैठने की समुचित व्यवस्था थी । तीर्थंकर की धर्मसभा में राजा-रंक,
गरीब-अमीर, गोरे-काले सब मानव एक साथ बैठकर धर्म श्रवण
करते हैं । उनकी धर्मसभा में प्रत्येक प्राणी को जाने का अधिकार है ।
छोटे-बड़े और जाति-पांति का कोई भेद नहीं है । यहां तक कि उसमें

हे जिनेन्द्र ! आपकी महानता बाह्य वैभव से नहीं है । वह आपका
है भी नहीं, उसे तो आप दीक्षा लेते समय ही पूर्णतः त्याग चुके हैं।
आपकी महानता तो अनन्तचतुष्टय रूप अंतरंग वैभव से है ।

आपकी महिमा इस समवशरणादि विभूति से नहीं है और न
इसलिए भी आप महान् हैं कि बड़े-बड़े सम्राट एवं देव और इन्द्र तक
आपके चरणों में नत-मस्तक हैं । आपके आकाशगमन, भोजनादि के
बिना शरीर की स्थिति आदि अनेक अतिशयों से भी मैं आपकी
महानता नहीं मानता हूँ, क्योंकि ये बाह्य वैभव तो पुण्याश्रित हैं, अन्य
में भी पाये जा सकते हैं ।

आपकी महिमा तो आपके अन्तरंग वैभव से है । वह अन्तरंग
वैभव है आपकी सर्वज्ञता और परम वीतरागी भाव । किसी
मित्रता न किसी से द्वेष; विरोधी और भक्त के प्रति समभाव
अलोकाकाश सहित तीन लोक के समस्त पदार्थों का जो भी परिणमन
हो चुका है, हो रहा है, और भविष्य में होगा; उस सब को एक सा
हस्तामलकवत् पूर्णतः स्पष्ट जानने वाला ज्ञान, पर के कर्तृत्व
शून्य, मात्र जानते रहने वाला ज्ञानभाव ही आपका वास्तविक वैभव

हे प्रभो ! मैं आपकी वीतरागता और सर्वज्ञता से ही महिमा
हुआ हूँ, बाह्य वैभव से नहीं । वीतरागता और सर्वज्ञता की पहिचान
आपकी पहिचान है । घर-द्वार, माता-पिता, पुत्र-पुत्रियों से
पहिचाने जाते हैं । इन सब से पूर्णतःपृथक् हे जिनेश्वर ! आपके
पाकर मैं धन्य हो गया हूँ । मेरा यह मानव-जीवन सार्थक हो गया
इसमें जो पाने लायक था, वह मैंने पा लिया है । मैंने आपको ही न
नाथ ! अपने आपको भी पा लिया है ।

हे प्रभो ! जो व्यक्ति आपके इस वैभव को जानते-पहिचानते
वस्तुतः वे ही आपको जानते हैं, अन्य तो गतानुगतिक लोग हैं । र
आता तो उसके साथ कर्मचारी भी आ गये, बाह्य विभूति दे
चकित रह गये, नत-मस्तक भी हो गये और आपसे भोगों की
मांगने लगे, आपको भोगों का दाता मानने लगे, भक्ति के आ
आपको भोग-दाता, वैभव-दाता, कर्ता-हर्ता बताने लगे ।

हे भगवन ! वस्तुतः ये आपके भक्त नहीं, भोगों के भक्त हैं । नके लिए भोग ही सब कुछ है, भोग ही भगवान है । ये आपके ही रणों में नहीं, जहाँ भी भोगों की उपलब्धि प्रतीत करेंगे, झुकेंगे ।

हे प्रभो ! कितने आश्चर्य की बात है, जिन भोगों को तुच्छ ानकर आपने स्वयं त्याग किया है, वे उन्हें ही इष्ट मान रहे हैं ार आप से ही उनकी माँग कर रहे हैं, आपको ही उनका दाता ता रहे हैं । हे प्रभो ! आपके अनन्तज्ञान की महिमा तो अनन्त है , पर अज्ञानियों के अज्ञान की महिमा भी अनन्त है, अन्यथा वे इस कार व्यवहार क्यों करते ?

हे प्रभो ! जो व्यक्ति आपके इस वीतरागी-सर्वज्ञ स्वभाव को ली प्रकार जान लेता है – पहिचान लेता है, वह अपने आत्मा को भी ान लेता है – पहिचान लेता है और उसका मोह (मिथ्यात्व) अवश्य ष्ट हो जाता है । वह आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा चारित्र-मोह का भी मशः नाश करता जाता है और कालान्तर में जाकर वह भी ीतरागी बन जाता है । उसके समस्त मोह-राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं । ह लोकालोक का ज्ञाता हो जाता है, वह स्वयं वीतराग-सर्वज्ञ न जाता है[1] ।

हे प्रभो ! जिसके क्षयोपशम ज्ञान में वीतरागता और सर्वज्ञता ा सच्चा स्वरूप आ गया, वह निश्चित रूप से भविष्य में पूर्ण ीतरागता और सर्वज्ञता को प्राप्त करेगा । सर्वज्ञ का ज्ञान तो अनन्त महिमावंत है ही, किन्तु जिसके ज्ञान में सर्वज्ञता का स्वरूप आ गया उसका ज्ञान भी कम महिमा वाला नहीं है, क्योंकि वह सर्वज्ञता प्राप्त करने का बीज है । सर्वज्ञता की श्रद्धा बिना, पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट नहीं होती ।

हे प्रभो ! आपको लोग विभिन्न नामों से पुकारते हैं, पर वे सभी ाम आपकी महानता को धारण करने में असमर्थ हैं । आपका विराट् व्यक्तित्व उनमें समाता नहीं है ।

---

[1] प्रवचनसार, गाथा ८०-८१

समाप्त भी हो सकता है। वे दोष और आवरण आपके समाप्त हो गये हैं; अतः आप पूर्ण वीतराग और सर्वज्ञ हो गये हैं[1]।

हे जिनेन्द्र ! सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय भी अवश्य होंगे, क्योंकि वे अनुमान-ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं। जो अनुमान द्वारा जाने जाते हैं, वे किसी न किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय भी होते ही हैं। अतः सर्वज्ञता असंभव नहीं है[2]।

हे प्रभो ! वह सर्वज्ञता आप में प्रगट हो गई है। आपकी वाणी रूपी अमृत वर्षा का सब समुदाय उसी व्याकुलता से प्रतीक्षा कर रहा है जिस प्रकार आषाढ़ मास व्यतीत होने पर भी वर्षा न होने पर, कृषक मेघ की प्रतीक्षा करते हैं। आषाढ़ मास समाप्त हो गया है। प्रभो ! अमृतवर्षा हो यही सब की भावना है – जिसका पानकर जगत तत्त्व का मर्म समझ सके और आपकी प्रत्यक्षादि-प्रमाणों से अबाधित, अविरोधमयी वाणी से सर्वज्ञता का निर्णय कर आत्महित कर सके।

सबसे सुखद आश्चर्य तो सबको यह हुआ कि इन्द्रभूति गौतम स्तुति में मग्न थे और वीर प्रभु की दिव्य-ध्वनि खिरने लगी थी। ओंकार-ध्वनि प्रवाहित हो रही थी, उसमें आत्मा का स्वरूप विशद रूप में प्रतिपादित हो रहा था। अमृत बरस रहा था। समस्त श्रोतागण आनन्द-मग्न हो उसमें सराबोर हो रहे थे। उनकी वही दशा हो रही थी जो दशा बहुत प्रतीक्षा के बाद अभीष्ट मेघ वर्षा होने पर कृषकों की होती है। वह सौभाग्यशाली दिन था श्रावण कृष्ण प्रतिपदा का। उस दिन भगवान का उपदेश आरंभ हुआ था। अतः आज भी सारे भारतवर्ष में उस दिन वीर-शासन जयन्ती मनाई जाती है।

इन्द्रभूति गौतम के साथ उनके शिष्यगण भी उनके साथ महावीर के मार्ग पर हो लिए थे। गौतम अपनी योग्यता से महावीर के प्रमुख शिष्य व प्रथम गणधर बने।

---

[1] वही, श्लोक ४

[2] देवागम स्तोत्र (आप्तमीमांसा), श्लोक ५

ाली वस्तुएं नहीं हैं और न उन्हें दूसरों के बल पर ही प्राप्त जा सकता है।

भगवान महावीर की वाणी में जो कुछ आया वह कोई नया हीं था। सत्य में नये-पुराने का भेद कैसा? उन्होंने जो कुछ ह सदा से है, सनातन है। उन्होंने सत्य की स्थापना नहीं, टन किया है।

उनके द्वारा जिस त्रैकालिक सत्य का उद्घाटन हुआ, उनकी वाणी स सर्वोदय तीर्थ का प्रस्फुटन हुआ, उसका विस्तृत विवेचन ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में किया जा रहा है। उनके उपदेश का त सार इस प्रकार है :-

- प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। कोई किसी के आधीन नहीं है।
- सब आत्माएँ समान हैं। कोई छोटा-बड़ा नहीं।
- प्रत्येक आत्मा अनन्तज्ञान और सुखमय है। सुख कहीं बाहर से नहीं आता है।
- आत्मा ही नहीं, प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमनशील है। उसके परिणमन में पर-पदार्थ का कोई हस्तक्षेप नहीं है।
- सब जीव अपनी भूल से ही दुःखी हैं और स्वयं अपनी भूल सुधारकर सुखी हो सकते हैं।
- अपने को नहीं पहचानना ही सबसे बड़ी भूल है तथा अपना सही स्वरूप समझना ही अपनी भूल सुधारना है।
- भगवान कोई अलग नहीं होते। यदि सही दिशा में पुरुषार्थ करे तो प्रत्येक जीव भगवान बन सकता है।
- स्वयं को जानो, स्वयं को पहचानो, और स्वयं में समा जावो; भगवान बन जावोगे।
- भगवान जगत का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं। वह तो समस्त जगत का मात्र ज्ञाता-दृष्टा होता है।
- जो समस्त जगत को जानकर उससे पूर्ण अलिप्त वीतराग रह सके अथवा पूर्ण रूप से अप्रभावित रहकर जान सके, वही भगवान है।

वाली ममतामयी माँ जैसी हो रही थी। हर्षमय शोक और शोकमय हर्ष के इस पावन प्रसंग का वर्णन शब्दों में अवर्णनीय है।

तीर्थंकर भगवान महावीर का प्रातः निर्वाण हुआ और उसी दिन सायंकाल उनके प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतम गणधर को पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति हुई। इस कारण यह दिन द्विगुणित महिमावंत हो गया। भगवान महावीर के वियोग से दुःखी धर्म-प्रजा को केवली गौतम को पा कुछ आश्वासन मिला। शोकाकुल जनता का शोक कुछ कम हुआ।

दीपावली का महान पर्व भगवान महावीर के निर्वाणोत्सव एवं गौतम गणधर के केवलज्ञान-कल्याणक के रूप में मनाया जाता है। भगवान महावीर के निर्वाण दिन से एक संवत् भी चला जिसे वीर निर्वाण संवत् कहते हैं, जो आज भी जैनियों में अत्यधिक प्रचलित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थंकर भगवान महावीर के वर्तमान भव में उतनी विविधता और उतार-चढ़ाव नहीं हैं, जितने कि उनके पूर्व भवों में पाये जाते हैं। उनके वर्तमान भव में उनके आध्यात्मिक जीवन का उत्तरोत्तर क्रमशः विकास स्पष्ट परिलक्षित होता है।

जन्म से आत्मज्ञानी बालक वर्द्धमान को हम बचपन से ही धीर-गंभीर और आत्मनिष्ठ पाते हैं। राज-काज आदि लौकिक कार्यों में उनकी रुचि ही न थी। बाह्य जगत से एकदम कटे हुए से राजकुमार वर्द्धमान अपने अन्तर्जगत में ही मग्न रहते थे। न उन्हें वैभव से लगाव था, न विषय-भोगों का ही चाव।

यद्यपि वे तीस वर्ष तक घर में रहे, पर रहे न रहे बराबर। उनका मन घर में कभी लगा ही नहीं। यौवन उनके भी आया था, पर उनके जीवन में यौवनायें न आ सकीं, क्योंकि उनमें यौनेपणा ही न थी। उनको यौवन से कोई आकर्षण न था, तभी तो तीसवर्षीय भरे यौवन में विरागी बन, वीतरागी बनने वन को चल पड़े तथा मौन हो गये। वे गये तो गये फिर लौटे ही नहीं, मौन हुए तो हुए, फिर किसी से तब तक बोले ही नहीं, जब तक कि अपना प्राप्तव्य न पा लिया।

जब वे पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ हो गये तब उनकी वाणी प्रस्फुटित हुई। वीर हिमाचल से पावन जिनवाणी गंगा प्रवाहित हुई तो तीस वर्ष तक बहती रही। गौतम गणधर आदि अनेकों ने उसमें निमज्जन कर, निमग्न हो, अपूर्व शान्ति और आनन्द प्राप्त किया।

सर्व हितकारी उनका हितोपदेश एक तीर्थ बन गया। वे स्वयं तो तिरे ही, उनके पावन उपदेश से लाखों और भी भव-सागर से पार उतरे, उतरने का मार्ग पा गये। सर्वोदय तीर्थ का प्रचार व प्रसार कर वे अपने तीर्थंकर होने को सार्थक कर गये।

जब वे गये तब अमावस्या की रात्री भी प्रकाशमय हो गई और २५०० वर्षों से आज तक लगातार एक वही कार्तिकी अमावस्या-काली होकर भी जगमगाती है, प्रकाशमय हो जाती है। उस दिन दीपों की आवलियाँ जगमगा उठती है, अतः यह महान पर्व दीपावली के नाम से विख्यात है।

दीपावली अंधकार में प्रकाश का पर्व है।

द्वितीय खण्ड

सर्वोदय तीर्थ

सर्वोदय तीर्थ

तीर्थंकर भगवान महावीर का तीर्थ सर्वोदय तीर्थ है। उसे उन्होंने किसी गिरि-शिखर पर या नदी के किनारे खड़ा नहीं किया था। उनका उपदेश ही उनका तीर्थ है, उनकी वाणी ही तीर्थ है और वे हैं तीर्थंकर उन्होंने वस्तु के जिस अनेकान्तात्मक सर्वोदय स्वरूप का प्रतिपादन किया है उसमें वस्तु-स्वातन्त्र्य को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनकी दिव्य-वाणी में मात्र जन-जन की स्वतंत्रता की ही घोषणा नहीं हुई, अपितु कण-कण की स्वतंत्रता का घोषनाद हुआ है।

विश्व का प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतंत्र है, वह अपने परिणमन का कर्त्ता-हर्त्ता स्वयं है, उसके परिणमन में पर का हस्तक्षेप रंचमात्र भी नहीं है।

कर्त्तावाद का उन्होंने स्पष्ट निषेध किया है। कर्त्तावाद के निषेध से उनका तात्पर्य मात्र इतना ही नहीं है कि कोई शक्तिमान ईश्वर जगत का कर्त्ता नहीं है, अपितु यह भी है कि कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। किसी एक महान शक्ति को समस्त जगत का कर्त्ता-हर्त्ता मानना एक कर्त्तावाद है, तो परस्पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता मानना अनेक कर्त्तावाद है।

यह विश्व अनादि-अनन्त है, इसे न तो किसी ने बनाया है और न ही कोई इसका विनाश कर सकता है, यह स्वयंसिद्ध है। विश्व का कभी सर्वथा नाश नहीं होता है, मात्र परिवर्तन होता है; वह परिवर्तन कभी-कभी नहीं, निरन्तर हुआ करता है।

यह समस्त जगत परिवर्तनशील होकर भी नित्य है और नित्य होकर भी परिवर्तनशील है। यह नित्यानित्यात्मक है, इसकी नित्यता स्वतःसिद्ध है और परिवर्तन इसका स्वभावगत धर्म है। नित्यता के

समान अनित्यता भी वस्तु का स्वरूप है । प्रत्येक वस्तु सत् स्वरूप है। सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त होता है[1] । उत्पाद और व्[यय] परिवर्तनशीलता का नाम है और ध्रौव्य नित्यता का । प्रत्येक द्[रव्य] उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है, अतः वह द्रव्य है । द्रव्य गुण-[पर्याय] पर्यायवान होता है[2] । जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों और समस्त पर्यायों [में] रहे उसे गुण कहते हैं तथा गुणों के परिणमन को पर्याय कहा जाता है

षट् द्रव्य

यह विश्व पृथक् से और कुछ नहीं है, छह द्रव्यों के समुदाय [को] ही विश्व कहते है[3] । वे छः द्रव्य हैं – जीव, पुद्गल, धर्म, अध[र्म] आकाश और काल । जीव को छोड़कर बाकी पांच द्रव्य अजीव है[ं] इस तरह यह सारा जगत् चिदचिदात्मक है । जीव द्रव्य अनन्त और पुद्गल द्रव्य उनसे भी अनन्त गुणे हैं । धर्म, अधर्म, और आ[काश] द्रव्य एक-एक हैं[4] । काल द्रव्य असंख्यात हैं[5] ।

ज्ञान-दर्शन-स्वभावी आत्मा को जीव द्रव्य कहते हैं[6] । जि[समें] स्पर्श, रस, गंध और वर्ण पाया जाय वह पुद्गल है[7] । [जो] इन्द्रियों के माध्यम से दृश्यमान जगत् है वह सब पुद्गल का परिणमन है, अतः पुद्गल ही हैं । स्वयं चलते हुए जीवों और पुद्[गलों] को गमन में जो सहकारी (निमित्त) कारण है, वह धर्म द्रव्य [है ।] गतिपूर्वक स्थिति करने वाले जीवों और पुद्गलों को स्थिति में सहकारी (निमित्त) कारण है, वह अधर्म द्रव्य है । समस्त द्रव्यों

---

1 उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।–तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सूत्र ३०
2 गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ।–तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सूत्र ३८
3 द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ३९
4 आ आकाशादेकद्रव्याणि ।–तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सूत्र ६
5 ते कालाणू असंखद्व्याणि । –द्रव्यसंग्रह, गाथा २२
6 उपयोगो लक्षणम् । सद्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।–तत्त्वार्थसूत्र, अ०, सूत्र ८-९
7 स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः –तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सूत्र २३

अवगाहन में आकाश द्रव्य और परिवर्तन में काल द्रव्य निमित्त है[1]।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य का वर्णन एकमात्र जैन दर्शन में ही है, अन्य दर्शनों में नहीं। लोक में धर्म-अधर्म शब्द दर्शन, मत, सिद्धान्त आचार, पुण्य-पाप आदि के अर्थ में प्रचलित हैं; परन्तु उन अर्थों से यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। ये दोनों स्वतंत्र द्रव्य हैं, जो सम्पूर्ण लोक में तिल में तेल की भांति व्याप्त हैं। जैन दर्शन में धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों का प्रतिपादन जीव और पुद्गल के अनुपात में बहुत कम हुआ है। कारण कि जैन तत्त्व के प्रतिपादन और उपदेश का मुख्य उद्देश्य सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश रहा है।

प्रसिद्ध जैनाचार्य समन्तभद्र ने धर्म की परिभाषा स्पष्ट करते हुए कहा है :– "जो प्राणियों को संसार दुःख से निकालकर उत्तम सुख में पहुँचा दे, वही धर्म है[2]।"

प्रतिपादन का केन्द्र विन्दु

संसार में जितने जीव हैं वे सब सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। यही कारण है कि समस्त तीर्थंकरों ने दुःख को हरने वाला और सुख को करने वाला सदुपदेश ही दिया है। तीर्थंकर महावीर के उपदेशों का उद्देश्य भी आधि, व्याधि और उपाधिरूप त्रिविध ताप से संतप्त प्राणियों को मुक्ति का मार्ग बताना था। मुक्ति का मार्ग अर्थात् दुःखों से मुक्ति का उपाय विकारों से मुक्ति का उपाय। अतः जिनवाणी में जितना और जो भी कथन है वह सब इसी दृष्टिकोण से है। षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व, नव पदार्थरूप जो भी कथन है वह दुःख, दुःख के कारणों, सुख और सुख के कारणों को ध्यान में रखकर ही किया गया है।

षट् द्रव्यों में जीव को छोड़कर पांच अजीव द्रव्य तो न दुःखी हैं और न कभी उनके सुखी होने का ही सवाल है क्योंकि उनमें चेतनता ही नहीं है। सुख-दुःख चेतन को ही होते हैं क्योंकि वे चेतन

---

[1] (क) द्रव्यसंग्रह, गाथा १७ से २१; (ख) प्रवचनसार, गाथा १३३-३४

[2] संसारदुःखसत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे। रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक २

की ही अनुभूतियां हैं । पांच अजीव द्रव्य अचेतन होने से समझते भी नहीं हैं अतः उन्हें समझाने का प्रश्न भी नहीं है, उन्हें समझना भी नहीं है, क्योंकि समझ तो सुखी होने के लिए चाहिए, उन्हें सुखी होने का प्रश्न ही नहीं है । समझना संसारी जीवों को है, क्योंकि वे दुःखी हैं और उन्हें सुखी होना है । धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य इस जीव के लिए न तो दुःख के कारण ही हैं और न सुख के । यही कारण है कि इनका प्रतिपादन अत्यन्त संक्षेप में हुआ है ।

पुद्गल द्रव्य तेईस प्रकार का होता है, किन्तु पांच प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं का संयोग ही जीव के साथ होता देखा जाता है। वे पांच प्रकार हैं—आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनो वर्गणा, तैजस वर्गणा और कार्माण वर्गणा । जिनागम में संसारी आत्मा से एक क्षेत्रावगाह रूप से संबंध रखने वाले पांच प्रकार के शरीरों का वर्णन है-औदारिक, वैक्रियक, आहारक तैजस और कार्माण । इनमें से औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर आहार वर्गणा से बनते हैं। तैजस वर्गणा से तैजस शरीर और कार्माण वर्गणा से कार्माण शरीर निर्मित होता है । मनो वर्गणा से मन का निर्माण होता है और भाषा वर्गणा शब्दरूप परिणमित होकर भाषा का रूप लेती है । अतः पुद्गल का जो वर्णन जिनागम में मिलता है, उसमें सर्वाधिक वर्णन उक्त पांच प्रकार के पुद्गलों का ही होता है ।

भगवान महावीर के उपदेशों का केन्द्र बिन्दु आत्मा है, अतः आत्म-तत्त्व के प्रतिपादन के लिए पर-द्रव्यों का जितना और जो कथन आवश्यक है उतना और वही कथन उनकी वाणी में मुख्य रूप से आया। जीव का प्रतिपादन तो जीव के समझने के लिए है ही, किन्तु अजीव द्रव्यों का प्रतिपादन भी जीव (आत्मा) को समझने के लिए ही है[1], क्योंकि आत्मा का हित तो आत्मा के जानने में है । पर को मात्र जानना है और जीव को जानकर उसमें जमना है, रमना है । पर को जानकर उनमें

---

[1] बृहद् नयचक्र, गाथा २८४ में उद्धृत

छोड़ना है और जीव को, अजीव को जानकर उससे हटना है। पर को जानकर उसे छोड़ना है और स्व को जानकर उसे पकड़ना है, जानना है।

तीर्थंकर महावीर की प्रतिपादन शैली की यह मुख्य पकड़ है। इसे जाने बिना उनके प्रतिपादन के मिलते बिन्दु को पकड़ पाना संभव नहीं है।

कर्म

पुद्गल की पाँच प्रकार की वर्गणाओं में जो कार्मण वर्गणा है वह आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों का निमित्त पाकर स्वयं कर्मरूप परिणमित हो जाती है[1]। कार्मण वर्गणा के उस कर्मरूप परिणमन को द्रव्य कर्म कहते हैं। ये आठ प्रकार के होते हैं–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय[2]। इनके भी अवान्तर भेद १४८ होते हैं-जिनका विस्तृत वर्णन गोम्मटसार कर्मकाण्ड, तत्त्वार्थ सूत्र आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है।

आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों को भाव कर्म कहते हैं। इस प्रकार कर्म मूलतः द्रव्य कर्म और भाव कर्म के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

जीव और पुद्गल (कर्म–नोकर्म) अनादि काल से एकमेक से हो रहे हैं[3]। ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म (पुद्गल कर्म) के उदय में जीव के मोह-राग-द्वेष (भाव कर्म) होते हैं और मोह-राग-द्वेष आदि भाव होने पर आत्मा से द्रव्य कर्मों का सम्बन्ध होता है। द्रव्य कर्म जहाँ एक ओर भाव कर्म के लिए निमित्त बनते हैं, वहीं दूसरी ओर नोकर्म के संयोग के कारण (निमित्त) भी बनते हैं। नोकर्म स्थूल देहादि संयोगी पदार्थों को कहा जाता है।

---

1 जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥
–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १२

2 गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ८

3 वही, गाथा २

उक्त परिभाषा के अतिरिक्त सम्यग्दर्शन को समझाने के लिए जिनागम में विभिन्न स्थानों पर निम्न परिभाषाएँ भी मिलती हैं :

(१) सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है[1]।

(२) स्वपर-भेदविज्ञान ही सम्यग्दर्शन है[2]।

(३) आत्म-श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है[3]।

यद्यपि उक्त परिभाषाएँ ऊपर से देखने पर अलग-अलग प्र होती हैं, किंतु गहराई से विचार करने पर सभी का एक ही अभिप्राय ये विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अनुयोगों की कथन-पद्धति ए प्रकरण के अनुसार कही गई हैं। आचार्यकल्प पंडितप्रवर टोडरम ने इन सब पर विस्तार से विचार कर इनका प्रयोजन स्पष्ट करते इनमें सयुक्ति समन्वय स्थापित किया है[4]।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए जीवादि सप्त या नव तत्त्व और देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप का सच्चा ज्ञान और श्रद्धान आवश्यक साथ ही स्वपर-भेदविज्ञानपूर्वक आत्मानुभूति भी अत्यन्त आवश्यक सम्यग्दर्शन के विभिन्न लक्षण इन्हीं में से एक को मुख्य व अन्यों गौण करके बनाये गये हैं। प्रत्येक लक्षण में यद्यपि कोई एक को मु रूप से लिया गया है तथापि उसमें गौण रूप से अन्य सभी आ जाते क्योंकि वे सभी परस्पर अनुस्यूत हैं। जैसे—सप्त तत्त्वों में देव-शा गुरु इस प्रकार गर्भित हो जाते हैं :— मोक्ष तत्त्व को प्राप्त आत्मा देव एवं संवर-निर्जरा तत्त्व को प्राप्त आत्मा ही गुरु है तथा देव

---

[1] श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढ़ापोढ़मष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक

[2] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३२५

[3] (क) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१६
(ख) अष्टपाहुड़ (दर्शनपाहुड़), गाथा २०

[4] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३२५–३२

समान हितकारी और मिथ्यादर्शन के समान अहितकारी को
अन्य नहीं है"[१]।

जीव तत्त्व

ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मा को जीव तत्त्व कहते हैं। आत्मा
ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, श्रद्धा, चारित्र आदि अनन्त गुण होते है
सब गुणों में निरन्तर परिवर्तन हुआ करता है जिसे पर्याय कहते है
पर्याय की दृष्टि से आत्मा के तीन भेद किये जाते हैं – वहिरात्म
अन्तरात्मा और परमात्मा।

जिसे नव तत्त्वों का सही ज्ञान व श्रद्धान नहीं है और जि
आत्मानुभूति प्राप्त नहीं हुई है तथा जो शरीरादि अजीव पदार्थों
रागादिरूप आस्रवादि पदार्थों में अपनापन मानता है व उनका क
बनता है, वह आत्मा ही वहिरात्मा है।

जो आत्मा भेद-विज्ञान के बल से आत्मा को देहादिक अ
रागादिक से भिन्न ज्ञान-दर्शन स्वभावी जानता, मानता व अनु
करता है; वह ज्ञाता-दृष्टा सम्यग्दृष्टि आत्मा ही अन्तरात्मा क
जाता है।

यही अन्तरात्मा गृहस्थावस्था त्यागकर, शुद्धोपयोगरूप मुनि
अंगीकार कर, निजस्वभाव-साधन द्वारा आत्मतल्लीनता की प
अवस्था में पूर्ण वीतरागी होकर, सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेता
तो परमात्मा बन जाता है[२]।

वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्म दशा में नित्य परिवर्तनर्श
किन्तु सदा विद्यमान, देह से भिन्न एक चेतन तत्त्व है। उसमें
परिवर्तनशील तत्त्व हैं वे तो आस्रव-बंध, पुण्य-पाप, संवर-निर्ज

---

१ न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥
– रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक

२ विशेष जानकारी के लिए देखिए :–
समाधिशतक : पूज्यपाद; अष्ट पाहुड़ (मोक्षपाहुड़) : कुन्दकुन्द

न हो, उनमें आत्मा के शुद्ध स्वभाव के आश्रय से इच्छाओं का नि
अवश्य होना चाहिए, अन्यथा वह तप नहीं कहा जा सकता है क्यों
तप की मूल परिभाषा उसमें घटित होना ही चाहिए ।

तप आत्मा की वीतराग परिणतिरूप शुद्ध भाव का नाम है
अनशनादि बहिरंग और प्रायश्चित्त आदि अंतरंग तप जिस रूप
वीतराग भाव के पोषक हैं, उसी रूप में वे तप हैं । कोई वीतराग भा
रूप तप को तो न जाने और बाह्यरूप से इन्हीं को करता रहे तो उस
निर्जरा नहीं होगी[1], क्योंकि निर्जरा का कारण तो शुद्ध भाव
निश्चय तप ही है । सच्चा तप सम्यग्दृष्टि के ही होता है ।

उपवासादि क्रियायें अज्ञानी भी करते हैं, किन्तु उनके ख्याल में
उपवासादि तपों का सच्चा स्वरूप तो आता नहीं है और भोजनादि
त्यागरूप बाह्य क्रिया को उपवासादि तप मान लेते हैं । जैसे – कषायों,
भोगों और भोजन के त्याग का नाम उपवास है[2], किन्तु मात्र भोजन के
त्याग को उपवास मान लिया जाता है, परिणामों में भोगों की वांछा
और कषायों की ज्वाला कितनी ही क्यों न जलती रहे, उस ओर
ध्यान ही नहीं जाता । आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने उनकी
स्थिति का चित्रण करते हुए लिखा है :–

"कितने ही जीव पहले तो बड़ी प्रतिज्ञा धारण कर बैठते हैं
परन्तु अंतरंग में विषय-कषाय वासना मिटी नहीं है, इसलिए जैसे
तैसे प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते हैं । वहाँ उस प्रतिज्ञा से परिणाम दुःखी
होते हैं । जैसे कोई बहुत उपवास कर बैठता है और पश्चात् पीड़ा से
दुःखी हुआ रोगी की भाँति काल गंवाता है; धर्म साधन नहीं करता;
........उपवास करके फिर क्रीड़ा करता है; कितने ही पापी जुआ आदि

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २३३

[2] कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते ।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः ।

दुःस्वादों में लग जाते हैं उनको तो रहना चाहते हैं। ऐसा जानते हैं कि किसी प्रकार स्वाद पुष्ट करना।......अज्ञानी-तपस्वी के भोजन में रुचि ऐसी होकर गरिष्ठादि भोजन करते हैं, सो इनका बहुत करते हैं[1]।"

वस्तुतः जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव आत्मा के आश्रय से शुद्धि की वृद्धि करते हुए निरन्तर इच्छाओं का अभाव करते जाते हैं, वही तप है और उसमें ही निर्जरा होती है। उसके साथ होने वाली अनशनादिक की व्यावहारिक क्रियाओं और विकल्परूप शुभ भावों को भी व्यवहार से तप कहा जाता है, पर यह उपचार मात्र है।

मोक्ष तत्त्व

मोह-राग-द्वेष आदि समस्त विकारों, द्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मों और देहादिक नोकर्मों से पूर्णतः मुक्त हो जाना ही मोक्ष है। यह भी दो प्रकार का होता है—द्रव्य मोक्ष और भाव मोक्ष। आत्मा के जो शुद्ध भाव, कर्म-बंधन और मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों से पूर्णतः मुक्त होने में हेतु हैं, वे भाव भाव मोक्ष हैं अर्थात् ज्ञानादि गुणों का पूर्ण विकास, पूर्ण शुद्ध पर्याय का प्रगट होना ही भाव मोक्ष है और ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों एवं देहादि नोकर्मों से सर्वथा छूट जाना द्रव्य मोक्ष है[2]।

मोक्ष को प्राप्त करने के लिए जो उपाय हैं, वे ही संवर-निर्जरा हैं। इस प्रकार संवर-निर्जरा कारण हैं और मोक्ष कार्य है। मोक्ष के साधक होने से संवर-निर्जरा मोक्षमार्ग हैं।

संवर, निर्जरा और मोक्ष उपादेय तत्त्व हैं। आस्रव-बंध, पुण्य-पाप संसार-मार्ग होने से हेय तत्त्व हैं। आश्रय करने की अपेक्षा से त्रिकाली ध्रुव शुद्ध एक जीव तत्त्व ही परम उपादेय है एवं इसके अतिरिक्त समस्त जीव-अजीव न तो हेय हैं, न उपादेय। ये ज्ञेय हैं, मात्र जानने योग्य हैं।

---

1 मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २३८-३९
2 द्रव्यसंग्रह, गाथा ३७

निजात्म तत्त्व के ज्ञान, श्रद्धान और लीनता से उपादेय तत्त्व संवर, निर्जरा और मोक्ष यथाक्रम प्रगट होते हैं। आस्रव, बंध, पुण्य पाप यथाक्रम छूटते जाते हैं और सारा जगत ज्ञानी का ज्ञेयमात्र बन कर रह जाता है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में उक्त तत्त्वों का मंथन, चर्चा, निरन्तर अभ्यास आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी ने तत्त्वविचार का महत्त्व इस प्रकार प्रतिपादित किया है :-

"देखो, तत्त्वविचार की महिमा ! तत्त्वविचाररहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादिक पाले तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं, और तत्त्वविचार वाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है तथा किसी जीव को तत्त्वविचार होने के पहले कोई कारण पाकर देवादिक की प्रतीति हो, व व्रत-तप का अंगीकार हो, पश्चात् तत्त्वविचार करे; परन्तु सम्यक्त्व का अधिकारी तत्त्वविचार होने पर होता है[1] ।"

देव

अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी सच्चे देव हैं। देवगति के देवों से पृथक् दिखाने के लिए यहां 'सच्चे' विशेषण का प्रयोग है। सच्चे देव को परमात्मा, भगवान, आप्त आदि नामों से अभिहित किया जाता है। यद्यपि सामान्य कथनानुसार ये शब्द सभी एकार्थवाची हैं तथापि प्रत्येक शब्द अपनी कुछ अलग विशेषता रखता है।

जो वीतरागी और सर्वज्ञ हों वे सभी भगवान हैं, परमात्मा हैं, सच्चे देव हैं। किन्तु आप्त में एक विशेषता और होती है जो अन्य में नहीं। आप्त वीतरागी और सर्वज्ञ होने के साथ-साथ हितोपदेशी भी

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २६०

करने वाला व्यक्ति वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान का उपासक नहीं हो सकता। वस्तुतः वह भगवान का उपासक न होकर भोगों का उपासक है।

वीतरागी भगवान का सच्चा स्वरूप समझ नहीं पाने के कारण उपासना में अनेक विकृतियाँ आ जाना सम्भव है। यही कारण है कि आज हम देव-मूर्तियों में वीतरागता न देखकर चमत्कार देखने लगे हैं और 'चमत्कार को नमस्कार' की लोकोक्ति के अनुसार जिस मूर्ति और मन्दिर के साथ चमत्कारिक कथायें जुड़ी पाते हैं, उन मंदिरों में विशेषकर उन मूर्तियों के समक्ष तथाकथित भक्तों की भीड़ अधिकाधिक दिखाई देती है। जिनके साथ लौकिक समृद्धि, संतानादि की प्राप्ति की कल्पनाएँ प्रसारित हैं, वहाँ तो खड़े होने तक को स्थान नहीं मिलता और शेष मन्दिर खण्डहर होते जा रहे हैं—वहाँ की मूर्तियों की धूल साफ करने वाला भी दिखाई नहीं देता।

एक भगवान महावीर की हजारों मूर्तियाँ हैं। उन सब मूर्तियों के माध्यम से हम महावीर की पूजा करते हैं। पृथक्-पृथक् मन्दिरों में पृथक्-पृथक् मूर्तियों के माध्यम से पूजे जाने वाले भगवान महावीर पृथक्-पृथक् नहीं, वरन एक हैं। भगवान महावीर अपनी वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता के कारण पूज्य हैं, कोई लौकिक चमत्कारों और सन्तान, धन आदि देने के कारण नहीं। जो महान आत्मा स्वयं धनादि और घरबार छोड़कर आत्मसाधना-रत हुए हों, उनसे ही धनादिक की चाह करना कितना हास्यास्पद है। उनको भोगादि का देने वाला कहना उनकी वीतरागता की मूर्ति को खण्डित करना है।

एक तो वीतरागी भगवान प्रसन्न होकर किसी को कुछ देते ही नहीं हैं और न अप्रसन्न होकर किसी का बिगाड़ ही करते हैं। दूसरे यदि भोले जीवों की कल्पनानुसार उन्हें सुख-दुःख देने वाला भी मान लिया जाय तो भी यह कैसे सम्भव है कि वे अमुक मूर्ति के माध्यम से ही कुछ देंगे, अन्य मूर्ति के माध्यम से नहीं। यदि यह कहा जाये कि वे तो कुछ नहीं देते किन्तु उनके उपासक को सहज ही पुण्यबंध होता है तो क्या अमुक मूर्ति की पूजा करने से या अमुक मन्दिर में घृतादि

दीपक रखने से ही पुण्य बंधेगा, अन्य मन्दिरों में या अन्य मूर्तियो सामने नहीं।

भोले भक्तों ने अपनी कल्पना के अनुसार तीर्थंकर भगवन्तों में भेद-भाव कर डाला है। उनके अनुसार पार्श्वनाथ रक्षा करते हैं शान्तिनाथ शान्ति। इसी प्रकार शीतलनाथ शीतला (चेचक) ठीक करने वाले हैं और सिद्ध भगवान को कुष्ठ रोग निवारण करने वाला कहा जाता है। भगवान तो सभी वीतरागी-सर्वज्ञ, एकसी अनन्तवीर्य के धनी हैं, उनके कार्यों में यह भेद कैसे संभव है? तो भगवान कुछ करते ही नहीं, यदि करें तो क्या शान्तिनाथ पार्श्वनाथ के समान रक्षा नहीं कर सकते? ऐसा कोई भेद तो अरहन्त भगवन्तों में है नहीं।

लौकिक अनुकूलता-प्रतिकूलता अपने-अपने भावों द्वारा पूर्वा-र्जित पुण्य-पाप का फल है। भगवान का उसमें कोई कर्त्तृत्व नहीं क्योंकि वे तो कृतकृत्य हैं। वे कुछ करते नहीं, उन्हें कुछ करना ही नहीं रहा। वे तो पूर्णता को प्राप्त हो चुके हैं।

भगवान को सही रूप में पहिचाने बिना सही अर्थों में उनकी उपासना की ही नहीं जा सकती। परमात्मा वीतरागी और पूर्णज्ञानी हैं, अतः उनका उपासक भी वीतरागता और पूर्णज्ञान का उपासक होना चाहिये। विषय-कषाय का अभिलाषी वीतराग का उपासक हो ही नहीं सकता। विषय-भोगों की अभिलाषा से भक्ति करने पर तीव्र कषाय होने से पापबंध ही होता है, पुण्य का बंध भी नहीं होता[1]।

सच्चे देव का सही स्वरूप न जानने वाले भक्तों की मानसिक वृत्ति का विश्लेषण करते हुए पंडित टोडरमलजी लिखते हैं :-

"तथा उन अरहन्तों को स्वर्ग-मोक्षदाता, दीनदयाल, अधम-उधारक, पतितपावन मानता है; सो जैं

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ८

ईश्वर को मानता है, उसी प्रकार यह अरहन्त को मानता है। ं
नहीं जानता कि – फल तो अपने परिणामों का लगता है, अर
उनको निमित्त मात्र हैं, इसलिए उपचार द्वारा से विशेषण सं
होते हैं। अपने परिणाम शुद्ध हुए बिना अरहन्त ही स्वर्ग मोक्षादि
दाता नहीं है[1]।"

"तथा अरहन्तादिक के नाम-पूजनादिक से अनिष्ट सामग्री
नाश तथा इष्ट सामग्री की प्राप्ति मानकर रोगादि मिटाने के अ
धनादि की प्राप्ति के अर्थ नाम लेता है व पूजनादि करता
सो इष्ट-अनिष्ट का कारण तो पूर्वकर्म का उदय है, अरह
कर्त्ता हैं नहीं। अरहंतादिक की भक्तिरूप शुभोपयोग परिणा
पूर्वपाप के संक्रमणादि हो जाते हैं, इसलिए उपचार से अनिष्ट के
का व इष्ट की प्राप्ति का कारण अरहंतादिक की भक्ति कही जाती
परन्तु जो जीव प्रथम से ही सांसारिक प्रयोजनसहित भक्ति कर
उसके तो पाप ही का अभिप्राय हुआ। कांक्षा-विचिकित्सारूप भाव
उनसे पूर्वपाप के संक्रमणादि कैसे होंगे[2] ?"

सच्चे देव का दूसरा विशेषण है सर्वज्ञ। अलोकाकाश
तीनलोक व तीनकाल के समस्त पदार्थों को उनके गुण-पर्यायों
एक समय में पूर्णतः जानें, वे सर्वज्ञ हैं[3]। लोक में सब मि
अनन्तानन्त द्रव्य हैं, प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं और प्रत्येक गु
त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायें होती हैं। उन समस्त द्रव्यों,
और पर्यायों को सर्वज्ञ भगवान एक समय में इन्द्रियादिक की सा
के बिना परिपूर्ण रूप से जानते हैं। समस्त जगत में जो कुछ हो
हो रहा है, और भविष्य काल में जो कुछ भी होने वाला है,
भगवान के ज्ञान में वह सब वर्तमान में वर्तमानवत् ही
झलकता है।

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २२१

[2] वही, पृष्ठ २२२

[3] सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य। – तत्त्वार्थसूत्र अ० १, सूत्र २९

ईश्वर तो [illegible] है, [illegible] अपना [illegible] है । ऐसा नहीं जानता कि [illegible] परिणाम [illegible] है, परन्तु उनको निमित्त मात्र है, इसलिए उपचार [illegible] शुभ होते हैं । अपने परिणाम शुद्ध हुए बिना [illegible] ही स्वर्ग मोक्षादि के दाता नहीं है[1] ।"

"तथा अरहन्तादिक के नाम-पूजनादिक से अनिष्ट सामग्री का नाश तथा इष्ट सामग्री की प्राप्ति मानकर रोगादि मिटाने के अर्थ व धनादि की प्राप्ति के अर्थ नाम लेता है व पूजनादि करता है । सो इष्ट-अनिष्ट का कारण तो पूर्वकर्म का उदय है, अरहन्त तो कर्ता है नहीं । अरहन्तादिक की भक्तिरूप शुभोपयोग परिणामों से पूर्वपाप के संक्रमणादि हो जाते हैं, इसलिए उपचार से अनिष्ट के नाश का व इष्ट की प्राप्ति का कारण अरहंतादिक की भक्ति कही जाती है; परन्तु जो जीव प्रथम से ही सांसारिक प्रयोजनसहित भक्ति करता है उसके तो पाप ही का अभिप्राय हुआ । कांक्षा-विचिकित्सारूप भाव हुए उनसे पूर्वपाप के संक्रमणादि कैसे होंगे[2] ?"

सच्चे देव का दूसरा विशेषण है सर्वज्ञ । अलोकाकाश सहित तीनलोक व तीनकाल के समस्त पदार्थों को उनके गुण-पर्यायों सहित एक समय में पूर्णतः जाने, वे सर्वज्ञ है[3] । लोक में सब मिलाकर अनन्तानन्त द्रव्य हैं, प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं और प्रत्येक गुण की त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायें होती हैं । उन समस्त द्रव्यों, गुणों और पर्यायों को सर्वज्ञ भगवान एक समय में इन्द्रियादिक की सहायता के बिना परिपूर्ण रूप से जानते है। समस्त जगत में जो कुछ हो चुका है हो रहा हैं, और भविष्य काल में जो कुछ भी होने वाला है, सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में वह सब वर्तमान में वर्तमानवत् ही स्पष्ट झलकता है ।

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २२१

[2] वही, पृष्ठ २२२

[3] सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य । – तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र २९

'जो सबको जाने सो सर्वज्ञ'। सामान्यरूप से इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर भी सर्वज्ञत्व के प्रति सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान न होने के कारण जब उनके सामने यह बात आती है कि :—

जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहूँ न होसी, काहे होत अधीरा रे॥

वीतराग-सर्वज्ञ देव ने भविष्य के संबंध में जो-जो देखा—जाना है, वही होगा, अन्यथा नहीं हो सकता है; अतः अधीर होने की आवश्यकता नहीं है।

यह सुनकर वे एकदम चौंक उठते हैं कि तब तो हमारा परिणमन भगवान के ज्ञान के आधीन हो गया, हम जो चाहें वह नहीं कर सकते। हम तो परतन्त्र हो गये। उनकी समझ में यह नहीं आता कि भगवान के ज्ञान के आधीन वस्तु का परिणमन नहीं है। जिस रूप में वस्तु स्वयं परिणमित हुई थी, हो रही है, और होगी, भगवान ने तो उसको उस रूप में मात्र जाना है।

ज्ञान तो 'पर' को मात्र जानता है, परिणमाता नहीं है। जिस प्रकार ज्ञान के आधीन वस्तु नहीं है, उसी प्रकार वस्तु के आधीन ज्ञान भी नहीं है। दोनों का स्वतंत्र परिणमन अपने-अपने कारण होता है। ज्ञान के जान लेने से वस्तु की स्वतंत्रता कैसे खण्डित हो जावेगी? स्वतंत्रता ज्ञान से नहीं, अपने अज्ञान से खण्डित होती है। ज्ञान ने तो वस्तु के परिणमन में किसी प्रकार के हस्तक्षेप किए बिना मात्र उसको जाना है।

उन्हें सर्वज्ञता की वास्तविक श्रद्धा तो होती नहीं, किंतु शास्त्रों में लिखा है कि भगवान वीतरागी और सर्वज्ञ होते हैं; अतः उन्हें सर्वज्ञ माने बिना भी रहा जाता नहीं। यही कारण है कि वे सर्वज्ञता की व्याख्या में अपनी रुचि के अनुसार कल्पनाएँ करते हैं। कहते हैं कि भूतकाल और वर्तमान में तो जो कुछ होना था, हो चुका या हो रहा है, उसे तो भगवान निश्चित रूप से जानते हैं; किन्तु भविष्य तो अभी घटित ही नहीं हुआ, उसके बारे में यह कैसे कहा जा सकता है कि

[illegible] आगम है¹। [illegible] वाणी [illegible] वीतरागता [illegible] और पूर्णता [illegible] वाणी में [illegible] वीतरागता [illegible] होता है और [illegible] वाणी में प्रामाणिकता [illegible] जाती है।

समस्त जिनागम का निर्माण वीतरागी-सर्वज्ञ प्रभु की वाणी के आधार पर वीतरागता के मार्ग पर चलने वाले सम्यग्ज्ञानी सन्तों द्वारा होता है, पर समस्त जिनागम के मूलकर्ता तो सर्वज्ञ देव ही कहे जाते हैं², उसके बाद उत्तरोत्तर ग्रन्थकर्ताओं में गणधर देव, आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी एवं उनकी परम्परा में सम्यग्ज्ञानी श्रावक भी आते हैं। पर समस्त जिनागम की प्रामाणिकता का आधार वीतरागी और सर्वज्ञ परमात्मा ही है। अन्य ग्रन्थकारों की प्रामाणिकता वीतरागी और सर्वज्ञ प्रभु की वाणी की अनुकूलता के आधार पर ही है।

वीतराग की वाणी होने से जिनवाणी की पंक्ति-पंक्ति वीतरागता की पोषक होती है। जो वाणी राग-द्वेष आदि भावों को धर्म (मुक्ति का मार्ग) बताए, वह वाणी जिनवाणी (शास्त्र) नहीं हो सकती।

---

¹ तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ॥
— नियमसार, जीवाधिकार, गाथा ८

² जिन-शास्त्रों पर प्रवचन करने के पूर्व निम्नलिखितानुसार मंगलाचरण के रूप में बोलना आवश्यक है और प्रत्येक प्रवचनकार बोलता भी है :—
..........मिदं शास्त्रं (शास्त्र का नाम) नामधेयं अस्य मूलग्रंथकर्तारः श्री सर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रंथकर्तारः श्री गणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य कुन्दकुन्दाम्नाये (ग्रंथकार का नाम) विरचितं, श्रोतारः सावधानतया शृणवन्तु।

समस्त जिनवाणी का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता है[1]। वीतरागता ही परम धर्म है, अतः चारों अनुयोगों में वीतरागता की ही पुष्टि की गई है।

कहीं तो पूर्ण राग त्याग की बात कही गई है, और यदि कहीं पूर्ण राग छूटता सम्भव दिखाई नहीं दिया तो अधिक राग छोड़कर अल्प राग करने की सलाह दी गई है, पर रागादिभाव बढ़ाने को कहीं भी अच्छा नहीं बताया गया है[2]। जिसमें राग का पोषण हो वह शास्त्र जैनशास्त्र नहीं है।

शास्त्रों का सही स्वरूप समझने के साथ-साथ उनके कथनों का मर्म जानने के लिए उनके अर्थ करने की पद्धति से भी परिचित होना अत्यावश्यक है, अन्यथा उनका सही मर्म न समझ पाने के कारण लाभ के स्थान पर हानि हो सकती है। जैसे औषधि-विज्ञान सम्बन्धी शास्त्रों में अनेक प्रकार की औषधियों का वर्णन होता है। यद्यपि सभी औषधियाँ रोगों को मिटाने वाली ही हैं, तथापि प्रत्येक औषधि हर एक रोगी के काम की नहीं हो सकती। विशेष रोग एवं व्यक्ति के लिए विशेष औषधि विशिष्ट अनुपान के साथ निश्चित मात्रा में ही उपयोगी होती है। यही बात शास्त्रों के कथनों पर भी लागू होती है। अतः उनके मर्म को समझने में पूरी-पूरी सावधानी रखनी चाहिये, अन्यथा गलत औषधि सेवन के समान लाभ के स्थान पर हानि की सम्भावना अधिक रहती है।

जैन शास्त्रों के कथन करने की एक पद्धति है – निश्चय और व्यवहार नयों द्वारा वस्तुस्वरूप प्रतिपादन करने की। जिनागम का रहस्य जानने के लिए इन दोनों नयों का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि समस्त जिनागम में निश्चय-व्यवहाररूप कथन है। दूसरे जिनागम को चार अनुयोगों की पद्धति में विभक्त करके लिखा गया है। प्रत्येक अनुयोग की अपनी-अपनी पद्धति अलग-अलग है।

[1] पंचास्तिकाय संग्रह गाथा १७२ की 'समयव्याख्या' टीका
[2] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३०३

निरन्तर आत्मस्वरूप की साधना करने वाले साधुओं के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी लिखते हैं :—

"जो विरागी होकर, समस्त परिग्रह का त्याग करके शुद्धोपयोग-रूप मुनिधर्म अंगीकार करके अंतरंग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा अपने को आपरूप अनुभव करते हैं, परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते तथा अपने ज्ञानादिक स्वभाव को ही अपना मानते हैं, परभावों में ममत्व नहीं करते, तथा जो परद्रव्य व उनके स्वभाव ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं उन्हें जानते तो हैं परन्तु इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें राग-द्वेष नहीं करते, शरीर की अनेक अवस्थाएँ होती है, बाह्य नाना निमित्त बनते हैं, परन्तु वहाँ कुछ भी सुख-दुःख नहीं मानते, तथा अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसे बनती हैं वैसे बनती है, खींचकर उनको नहीं करते, तथा अपने उपयोग को बहुत नहीं भ्रमाते हैं, उदासीन होकर निश्चलवृत्ति को धारण करते हैं, तथा कदाचित् मंदराग के उदय से शुभोपयोग भी होता है उससे जो शुद्धोपयोग के बाह्य साधन हैं उनमें अनुराग करते हैं, परन्तु उस रागभाव को हेय जानकर दूर करना चाहते हैं, तथा तीव्र कषाय के उदय का अभाव होने से हिंसादि रूप अशुभोपयोग परिणति का तो अस्तित्व ही नहीं रहा है; तथा ऐसी अंतरंग (अवस्था) होने पर बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं, शरीर का संवारना आदि विक्रियाओं से रहित हुए हैं, वनखण्डादि में वास करते हैं, अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्डित पालन करते हैं, बाईस परीषहों को सहन करते हैं, बारह प्रकार के तपों को आदरते हैं, कदाचित् ध्यानमुद्रा धारण करके प्रतिमावत् निश्चल होते हैं, कदाचित् अध्ययनादिक बाह्य धर्मक्रियाओं में प्रवर्तते हैं, कदाचित मुनिधर्म के सहकारी शरीर की स्थिति के हेतु योग्य आहारविहारादि क्रियाओं में सावधान होते हैं—ऐसे जैन मुनि हैं उन सबकी ऐसी अवस्था होती है[१] ।"

---

[१] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३

ऐसे तो अध्यापक, माता-पिता आदि को भी गुरु कहा जाता है किन्तु यहाँ मुक्ति के मार्ग का प्रकरण है, अतः यहाँ पर निर्ग्रन्थ गुरु को लिया गया है — वे आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी हैं। वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सहित सम्यक्चारित्र के धारी भावलिंगी व दिगम्बर नग्न ही होते हैं। उनकी दशा अत्यन्त शान्त होती है।

उनके सहजाचार और उससे प्राप्त होने वाले अतीन्द्रिय आनन्द का चित्रण पंडित दौलतरामजी ने इस प्रकार किया है :—

अरि मित्र महल मसान कंचन, काँच निन्दन थुति करन;
अर्घावतारन असि-प्रहारन में सदा समता धरन॥
यों चिन्त्य निजमें थिर भये तिन अकथ जो आनंद लह्यो;
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र के नाहीं कह्यो[1]॥

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए देव और शास्त्र के समान गु[रु] का स्वरूप समझना भी अत्यन्त आवश्यक है। गुरु के स्वरूप को समझने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है, क्योंकि गुरु तो मुक्ति के साक्षात् मार्ग-दर्शक होते हैं। यदि उनके स्वरूप को भली-भाँति न समझ पाया तो गलत गुरु के संयोग से भटक जाने की संभावना अधिक बनी रहती है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने अष्टपाहुड़ में गुरु के स्वरूप पर विस्तार [से] प्रकाश डाला है। जहाँ एक ओर उन्होंने वस्त्रादि बाह्य परिग्रहादि [के] धारक तथाकथित गुरुओं को मोक्षमार्ग से च्युत माना है, वहीं बाह्य नग्न-दिगम्बर होने पर भी अन्तर में मोह-राग-द्वेष से युक्त हों, उन[के] भी गुरुत्व का निषेध करते हुए सावधान किया है। वे लिखते हैं :

जे पंचचेलसत्ता ग्रंथग्गाहीय जायणासीला।
आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि[2]॥

---

[1] छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ६,११
[2] अष्टपाहुड़ (मोक्षपाहुड़), गाथा ७९

जो पांच प्रकार के वस्त्रों में आसक्त हैं, उनमें से किसी प्रकार का वस्त्र ग्रहण करते हैं, याचना करते हैं, अधःकर्म आदि पाप कर्मों में रत हैं, सदोष आहार लेते हैं — वे मोक्षमार्ग से च्युत हैं ।

यद्यपि साधु नग्न ही होते हैं, तथापि नग्न हो जाने मात्र से कोई साधु नहीं हो जाता । उन्हीं के शब्दों में :-

दव्वेण सयल-णग्गा-णारयतिरिया य सयलसंघाया ।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥
णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमई ।
णग्गो न लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ॥
भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊण ।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए[1] ॥

द्रव्य से बाह्य में तो सभी प्राणी नग्न होते हैं । नारकी जीव और तिर्यञ्च जीव तो निरन्तर वस्त्रादि से रहित नग्न ही रहते हैं । मनुष्यादि भी कारण पाकर नग्न होते देखे जाते हैं तो भी वे सब परिणामों से अशुद्ध हैं, अतः भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं होते हैं ।

जिन-भावना से रहित अर्थात् सम्यग्दर्शन से रहित नग्न-श्रमण सदा दुःख पाता है, संसार-सागर में भ्रमण करता है, और वह बोधि अर्थात् रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग को चिरकाल तक नहीं पाता है ।

पहिले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर भाव से अंतरंग नग्न हो अर्थात् एकरूप शुद्ध आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण कर पश्चात् बाह्य में द्रव्यलिंग प्रगट करे यह मार्ग है, अर्थात् जिनाज्ञा है ।

यदि देव साक्षात् मोक्षस्वरूप हैं तो गुरु साक्षात् मोक्षमार्ग (संवर, निर्जरा) हैं । वे एक प्रकार से चलते-फिरते सदेह सिद्ध हैं । वे देव और शास्त्र के समान ही अष्टद्रव्य से पूजनीय हैं । वे हमारे परमपूज्य पंचपरमेष्ठी में सम्मिलित हैं, जिन्हें हम प्रतिदिन णमोकार मंत्र के रूप में प्रातः-सायं १०८ बार स्मरण करते हैं व नमस्कार करते हैं ।

---

[1] अष्टपाहुड़ (भावपाहुड़), गाथा ६७, ६८, ७३

से आत्मा का अनुभव करके निज स्वरूप रहते हैं और परमात्मा के स्वरूप को अपने अन्दर पा जाते हैं[1]।

पर से भिन्न निजात्मा को जानना ही भेद-विज्ञान है। भेद-विज्ञान 'स्व' और 'पर' के बीच किया जाता है, अतः इसे स्व-पर-भेदविज्ञान भी कहा जाता है। वस्तुतः यह आत्म-विज्ञान ही है, क्योंकि इसमें पर से भिन्न निजात्मा को जानना ही मूल प्रयोजन है।

भेद-विज्ञान में मूल बात दोनों को मात्र जानना या एक जानना नहीं, भिन्न-भिन्न जानना है। भिन्न-भिन्न जानना भी नहीं, पर से भिन्न स्व को जानना है। पर को छोड़ने के लिए जानना है और स्व को पकड़ने के लिए। पर को मात्र जानना है और स्व को जानकर उसमें जमना है, रमना है। स्व और पर को जानने का आशय उनके भेद-प्रभेदों के विकल्पजाल में उलझने से नहीं, किन्तु समस्त भेद जिसमें समा गये हैं – ऐसे अभेद, अखण्ड आत्मा को अखण्डपने जानने से है।

दृष्टि की अपेक्षा त्रिकाली ज्ञानानन्द-स्वभावी ध्रुव चैतन्य निज तत्त्व ही 'स्व' है। सब पुद्गलादि अचेतन पदार्थ, उनके गुण, उनकी पर्यायें तो 'पर' हैं ही, साथ ही आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावरूप आस्रव, बंध, पुण्य-पाप तत्त्व भी 'पर' हैं। यहाँ तक कि संवर, निर्जरा और मोक्षरूप अविकारी पर्यायें भी 'पर' की ही कोटि में आती हैं, क्योंकि उन्हें जीव तत्त्वों में शामिल मान लेने पर संवरादि तत्त्व जुदे नहीं बनेंगे।

समस्त पर-जीवद्रव्य, अजीवद्रव्य, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष पर्याय-तत्त्वों से दृष्टि हटाकर इनसे भिन्न निजात्म ध्रुव

---

[1] सुद्ध सुछंद अभेद अबाधित, भेद-विग्यान सुतीछन आरा।
अंतरभेद सुभाव विभाऊ, करै जड़-चेतनरूप दुफारा।।
सो जिन्हके उरमैं उपज्यौ, न रुचै तिन्हकौं परसंग-सहारा।।
आतमको अनुभौ करि ते, हरखैं परखैं परमातम-धारा।।
– नाटक समयसार, संवर द्वार, छन्द ३

तत्त्व में दृष्टि और ज्ञान को केन्द्रित करना ही स्वपर-भेदविज्ञान है ।

आत्मार्थी पर को भी जानते हैं, पर उनसे कुछ पाने के लिए नहीं, अपनाने के लिए भी नहीं; 'पर' से भिन्न 'स्व' की पहचान के लिए ही वे पर को जानते हैं ।

उनका पर को जानना भी स्व की खोज है, क्योंकि उन्हें पर से भिन्न आत्मा को जानना है; पर को न जानेंगे तो उसमें आत्मबुद्धि हो सकती है । जिससे भिन्न जानना है, उसे भी जानना होगा, पर उसे जानने के लिए नहीं; आत्मा को जानने में भूल न हो जावे, मात्र इसलिए उसे जानना है ।

'पर' को जानना है, पर हेय बुद्धि से जानना है । जैसे – जिसकी माँ खो गई है ऐसा बालक अपनी माँ की खोज के प्रयत्न में अनेक महिलाओं को देखता है, पर उन पर उसकी दृष्टि जमती नहीं । यह जानते ही कि यह मेरी माँ नहीं है, तत्काल उनसे उसकी दृष्टि हट जाती है; पर जब उसकी माँ मिल जाय तो उसे देखकर उस पर से वह दृष्टि हटाता नहीं, उसे देखता ही रहता है, उससे लिपट जाता है, उसमें समा जाना चाहता है । इसी प्रकार ज्ञानी आत्मा यद्यपि पर को जानता है तथापि उसकी दृष्टि पर में जमती नहीं, रमती नहीं ।

यद्यपि खोज की प्रक्रिया व खोज को भी व्यवहार से भेद-विज्ञान कहा जाता है, तथापि जिसे खोजना है उसी में खो जाना ही वास्तविक भेद-विज्ञान है अर्थात् निज-अभेद में खो जाना, समा जाना ही भेद-विज्ञान है ।

भेद-विज्ञानी जीव की दृष्टि अविकृत होती है । वह आत्मा को रागी-द्वेषी अनुभव नहीं करता और न ही वह आत्मा को सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि आदि भेदों में अनुभव करता है । अनुभव में अशुद्धता और भेद नजर नहीं आता ।

'तुम्हारी माँ कैसी है ?' खोये हुए बालक से पूछे जाने पर वह इसके अतिरिक्त और क्या उत्तर देगा कि 'माँ, माँ जैसी है' । उसका नाम क्या है ? 'मम्मी', यही उत्तर होगा उसका । वह गोरी है या

[illegible]
[illegible]

[illegible] राग-द्वेष [illegible] आत्मा को जानता ही नहीं। [illegible] आत्मा को जानते हैं। [illegible] राग-द्वेष की [illegible] है? यद्यपि वह जानता है कि पर्याय में उसकी भी सत्ता है। [illegible] रहा करे, उसे क्या? ज्ञानी ने तो राग-द्वेष से [illegible] को जाना ही नहीं। वे होंगे, तो होंगे। उनसे उसे क्या प्रयोजन है? वह निश्चिन्त है कि 'मैं तो ज्ञान-दर्शन-स्वभावी ध्रुव तत्त्व हूँ, मेरे तो उनका प्रवेश ही नहीं'।

हो सकता है आत्मानुभवी जीव 'आत्मा क्या है?' इसे भाषा व्यक्त न कर सके, पर क्या आत्मानुभव के लिए भाषा की आवश्यकता है? आत्मानुभव अलग वस्तु है और उसे भाषा में व्यक्त करना बिलकुल अलग चीज है।

यदि बालक को पुलिस के सहयोग से माँ मिल जाय तो वह माँ को देखकर अन्य महिलाओं के समान उससे दृष्टि हटायगा नहीं, जमाए ही रहेगा, उसके गले लग जायगा, उससे एकमेक हो जायगा। माँ बेटा-मय और बेटा माँ-मय हो जायेंगे। वे सब कुछ भूल जायेंगे। पुलिस वालों को भी धन्यवाद वे तब देंगे, जब वे कुछ समय बाद सहज हो जायेंगे। उस समय तो उन्हें किसी 'पर' की कोई सुध-बुध ही न रहेगी।

उसी प्रकार आत्मखोजी को जब आत्मोपलब्धि होती है, उस काल वे उसके निमित्त देव-शास्त्र-गुरु को भी भूल जाते हैं। वे तो आत्मा में तन्मय हो जाते हैं। पर्याय द्रव्य में अभेद हो जाती है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति तक का विकल्प टूट जाता है। जब कुछ काल बाद वे शुभोपयोग में आवेंगे तब व्यवहार में जागृत होंगे।

भेद-विज्ञानी का मार्ग स्व और पर को जानना मात्र नहीं, स्व से भिन्न पर को जानना मात्र भी नहीं है; बल्कि पर से भिन्न

विहिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते ।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते[१] ।।

शरीर में आत्मबुद्धि रखने वाला बहिरात्मा सम्पूर्ण शास्त्रों को जान लेने पर भी मुक्त नहीं होता और देह से भिन्न आत्मा का अनुभव करने वाला अन्तरात्मा सोता और उन्मत्त हुआ भी मुक्त हो जाता है।

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायौ ।
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ[२] ।।
आत्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान ।
विश्वशांति का मूल है, वीतराग विज्ञान[३] ।।

सम्यग्ज्ञान का मूल ज्ञेय 'पर' से विभक्त और 'निज' से अविभक्त आत्मा ही है । यही कारण है कि कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार में उक्त एकत्व-विभक्त आत्मा को ही निजवैभव से दिखाने की प्रतिज्ञा की है[४] । उनका वह सम्यग्ज्ञानरूपी वैभव स्याद्वाद की भाषा में अभिव्यक्त जिनागम के सेवन से, समस्त विपक्ष के निरसन में समर्थ निर्बाध युक्तियों के अवलम्बन से, परमगुरु वीतराग सर्वज्ञ अरहन्त एवं अपरमगुरु गणधरादि आचार्य परम्परा गुरु के उपदेश से प्रचुर संवेदन स्वरूप स्व-संवेदन से उत्पन्न हुआ है[५] । उन्होंने अपने उक्त वैभव से समझाने की बात कहकर श्रोताओं से भी उनके द्वारा इसी प्रकार से समझकर प्रमाणित करने का आग्रह किया है ।

उक्त कथन के आधार पर यह स्पष्ट है कि सम्यग्ज्ञान का आधार स्याद्वाद की भाषा में कथित अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप है । यद्यपि वह आगम के माध्यम से और परम्परा गुरु के उपदेश से जाना जाता है तथापि उसमें अंधश्रद्धा के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि उसे

---

[१] समाधिशतक, श्लोक ९४
[२] छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ४
[३] वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका, पृष्ठ १
[४] समयसार, गाथा ५
[५] वही, गाथा ५ की 'आत्मख्याति' टीका

यह कहा जाता है कि 'किसी अपेक्षा'[1] वहाँ 'भी' लगाना चा
और जहाँ अपेक्षा स्पष्ट बता दी जाती है वहाँ 'ही' लगाना चा
है। जैसे—प्रत्येक वस्तु कथंचित् नित्य भी है और कथंचित्
भी है। यदि इसी को हम अपेक्षा लगाकर कहेंगे तो इस प्रकार
होगा कि प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य ही है और
अपेक्षा अनित्य ही।

'भी' यह बताता है कि हम जो कह रहे हैं वस्तु मात्र
नहीं है, अन्य भी; किन्तु 'ही' यह बताता है कि अन्य
देखने पर वस्तु और बहुत कुछ है, किन्तु जिस ओर से
बताई गई है वह ठीक वैसी ही है, इसमें कोई शंका की गुंजाइश
है। अतः 'ही' और 'भी' एक दूसरे की पूरक हैं, विरोधी नहीं
अपने विषय के बारे में शंकाओं का अभाव कर दृढ़ता प्रदान
है और 'भी' अन्य पक्षों के बारे में मौन रह कर भी उनकी
को नहीं, निश्चित सत्ता की सूचक है।

'भी' का अर्थ ऐसा करना कि जो कुछ कहा जा रहा है
विरुद्ध भी संभावना है, गलत है। सम्भावना अज्ञान की
अर्थात् यह प्रकट करती है कि मैं नहीं जानता और कुछ भी
जबकि स्याद्वाद, संभावनावाद नहीं; निश्चयात्मक ज्ञान है
प्रमाण है। 'भी' में से यह अर्थ नहीं निकलता कि इसके
क्या है, मैं नहीं जानता; बल्कि यह निकलता है कि इस
कहा नहीं जा सकता अथवा इसके कहने की आवश्यकता नहीं
अंश को पूर्ण न समझ लिया जाय इसके लिए 'भी' का प्रयोग है।
दूसरे शब्दों में जो बात अंश के बारे में कही जा रही है उसे पूर्ण के
बारे में न जान लिया जाय इसके लिए 'भी' का प्रयोग है,
मिथ्या एकान्तों के जोड़-तोड़ के लिए नहीं।

---

१ 'किसी अपेक्षा' के भाव को स्यात् या कथंचित् शब्द प्रकट करते हैं।

इसी प्रकार 'ही का प्रयोग 'आग्रही' का प्रयोग न होकर इस बात को स्पष्ट करने के लिए है कि अंश के बारे में जो कहा गया है, वह पूर्णतः सत्य है। उस दृष्टि से वस्तु वैसी ही है, अन्य रूप नहीं।

समन्तभद्रादि आचार्यों ने पद-पद पर 'ही' का प्रयोग किया है[1]। 'ही' के प्रयोग का समर्थन श्लोकवार्तिक में इस प्रकार किया है :-

वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थ निवृत्तये।
कर्त्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित् ॥

वाक्यों में 'ही' का प्रयोग अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति और दृढ़ता के लिए करना ही चाहिए, अन्यथा कहीं-कहीं वह वाक्य नहीं कहा गया सरीखा समझा जाता है[2]। युक्त्यनुशासन श्लोक ४१-४२ में आचार्य समन्तभद्र ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है।

इसी सन्दर्भ में सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्दजी लिखते हैं :-

"इसी तरह वाक्य में एवकार (ही) का प्रयोग न करने पर भी सर्वथा एकान्त को मानना पड़ेगा; क्योंकि उस स्थिति में अनेकान्त का निराकरण अवश्यम्भावी है। जैसे – 'उपयोग लक्षण जीव का ही है'–इस वाक्य में एवकार (ही) होने से यह सिद्ध होता है कि उपयोग लक्षण अन्य किसी का न होकर जीव का ही है। अतः यदि इसमें से 'ही' को निकाल दिया जाय तो उपयोग अजीव का भी लक्षण हो सकता है[3]।

प्रमाण वाक्य में मात्र स्यात् पद का प्रयोग होता है, किन्तु नय वाक्य में स्यात् पद के साथ-साथ एव (ही) का प्रयोग भी आवश्यक है[4]। 'ही' सम्यक् एकान्त की सूचक है और 'भी' सम्यक् अनेकान्त की।

---

[1] सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥
– आप्तमीमांसा, श्लोक १५

[2] श्लोकवार्तिक, अ० १, सूत्र ६, श्लोक ५३

[3] जैन न्याय, पृष्ठ ३००

[4] नयचक्र, पृष्ठ १२६

झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह में हिंसा की परिभाषा घटित होती है; क्योंकि प्रमाद (कषाय) के योग के बिना असत्य वचन, चोरी आदि कार्य सम्भव नहीं हैं और इनसे प्राणों का पीड़न भी होता ही है।

अंतरंग और बहिरंग के भेद से परिग्रह दो प्रकार का होता है। अंतरंग परिग्रह चौदह और बहिरंग दश प्रकार का माना गया है। इस प्रकार कुल परिग्रह चौबीस प्रकार का है।

अंतरंग परिग्रह के चौदह भेद हैं – मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्यादि नौ नोकषाय। इस प्रकार अंतरंग परिग्रह कषाय अर्थात् मोह-राग-द्वेषरूप होने से हिंसारूप ही हुआ क्योंकि राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति का नाम ही हिंसा है, यह सिद्ध किया जा चुका है।

धन-धान्यादि दश प्रकार के बाह्य परिग्रह का संग्रह भी रागादि बिना सम्भव नहीं, तथा प्राणियों के प्राणों के पीड़न के बिना भी असम्भव होने से हिंसा ही है।

अतः जिसमें सब पाप प्रणालियाँ गर्भित हैं, ऐसी हिंसा ही सबसे बड़ा अधर्म है और जिसमें सर्व धर्म गर्भित हैं; ऐसी अहिंसा ही परम धर्म है। यही कारण है कि जैनाचार के मूल में सर्वत्र अहिंसा विद्यमान है। जिसमें हिंसा न हो या अशक्यानुष्ठान होने से भूमिकानुसार कम से कम हिंसा हो के आधार पर जैनाचरण निश्चित हुआ है।

रात्रिभोजन का त्याग, पानी छानकर काम में लेना, मद्य, मांस, मधु एवं पंचोदम्बर फलों के सेवन का निषेध, अभक्ष्य भक्षण का परिहार, यहाँ तक कि गुप्ति, समिति आदि सब में अहिंसा तिल में तेल की तरह व्याप्त है।

इन सब का वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है, किन्तु इतना समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि हिंसा और अहिंसा के अंतरंग और बहिरंग दोनों पक्षों को समझकर, प्रत्येक आचार के अंग पर दोनों को घटित करना आवश्यक है।

प्रत्येक ज्ञानी आत्मा समस्त द्रव्य-भाव हिंसा को सर्वथा हेय ही मानता है, भले ही वह अपनी कमजोरी के कारण उसे पूर्णतः त्याग

करने में समर्थ न हो। अपनी असमर्थता के कारण उसका त्याग क्रमशः भूमिकानुसार करता है, पर किसी भी स्तर पर किसी भी प्रकार का प्राणी पीड़न व राग-द्वेष भाव को रखने योग्य नहीं मानता।

हिंसा को त्यागने और अहिंसा को जीवन में उतारने के स्तर अनेक हैं, उन स्तरों के यद्यपि असंख्य भेद हो सकते हैं व होते हैं, पर उन सबका कथन तो सम्भव नहीं; यही कारण है कि उन्हें देशचारित्र और सकलचारित्र के रूप में समझाया गया है।

देशचारित्र मात्र अणुव्रतादि के शुभ भावरूप या बाह्य क्रियारूप ही नहीं है, किन्तु वहाँ अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव के अनुपात में आंशिक शुद्ध वीतराग-परिणति प्रगट हुई है, वह है। वस्तुतः तो वही चारित्र है। साथ में रहने वाला शुभराग और बाह्यक्रिया को तो व्यवहार से चारित्र कहा जाता है।

अज्ञानी जीव के विवेक के अभाव होने से उक्त मूल बात ख्याल में आती नहीं और बाह्य क्रिया पर दृष्टि रहती है। इसे स्पष्ट करते हुए पंडित टोडरमलजी लिखते हैं :—

"बाह्यक्रिया पर तो इनकी दृष्टि है और परिणाम सुधरने-बिगड़ने का विचार नहीं है। और यदि परिणामों का भी विचार हो तो जैसे अपने परिणाम होते दिखाई दें उन्हीं पर दृष्टि रहती है; परन्तु उन परिणामों की परम्परा का विचार करने पर अभिप्राय में जो वासना है उसका विचार नहीं करते। और फल लगता है सो अभिप्राय में जो वासना है उसका लगता है[१]।"

उन्होंने उसकी परिणति का चित्र इस प्रकार खींचा है :—

"यह उदासीन होकर शास्त्र में जो अणुव्रत महाव्रतरूप व्यवहार-चारित्र कहा है उसे अंगीकार करता है, एकदेश अथवा सर्वदेश पापों को छोड़ता है, उनके स्थान पर अहिंसादि पुण्यरूप प्रवर्तता है। तथा जिस प्रकार पर्यायाश्रित पाप कार्यों में

करने में समर्थ न हो। अपनी असमर्थता के कारण उनका त्याग क्रमशः भूमिकानुसार करता है, पर किसी भी स्तर पर किसी भी प्रकार का प्राणी पीड़न व राग-द्वेष भाव को रखने योग्य नहीं मानता।

हिंसा को त्यागने और अहिंसा को जीवन में उतारने के स्तर अनेक हैं, उन स्तरों के यद्यपि असंख्य भेद हो सकते हैं व होते हैं, पर उन सबका कथन तो सम्भव नहीं; यही कारण है कि उन्हें देशचारित्र और सकलचारित्र के रूप में समझाया गया है।

देशचारित्र मात्र अणुव्रतादि के शुभ आचरण या बाह्य क्रियारूप ही नहीं है, किन्तु वहाँ अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव के अनुपात में आंशिक शुद्ध वीतराग-परिणति प्रगट हुई है, वह है। वस्तुतः तो वही चारित्र है। साथ में रहने वाला शुभराग और बाह्यक्रिया को तो व्यवहार से चारित्र कहा जाता है।

अज्ञानी जीव के विवेक के अभाव होने से उक्त मूल बात ख्याल में आती नहीं और बाह्य क्रिया पर दृष्टि रहती है। इसे स्पष्ट करते हुए पंडित टोडरमलजी लिखते हैं :–

"बाह्यक्रिया पर तो इनकी दृष्टि है और परिणाम सुधरने-बिगड़ने का विचार नहीं है। और यदि परिणामों का भी विचार हो तो जैसे अपने परिणाम होते दिखाई दें उन्हीं पर दृष्टि रहती है; परन्तु उन परिणामों की परम्परा का विचार करने पर अभिप्राय में जो वासना है उसका विचार नहीं करते। और फल लगता है सो अभिप्राय में जो वासना है उसका लगता है[1]।"

उन्होंने उसकी परिणति का चित्र इस प्रकार खींचा है :–

"यह उदासीन होकर शास्त्र में जो अणुव्रत महाव्रतरूप व्यवहार-चारित्र कहा है उसे अंगीकार करता है, एकदेश अथवा सर्वदेश हिंसादि पापों को छोड़ता है, उनके स्थान पर अहिंसादि पुण्यरूप कार्यों में प्रवर्तता है। तथा जिस प्रकार पर्यायाश्रित पाप कार्यों में अपना

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २३७-३८

अणुव्रत और महाव्रत शुभ भावरूप हैं, अतः इन्हें व्यवहार से चारित्र कहा जाता है। वास्तविक चारित्र तो वीतराग भावरूप ही होता है। इस संदर्भ में पंडित टोडरमलजी ने लिखा है :-

"तथा हिंसादि सावद्य योग के त्याग को चारित्र मानता है, वहाँ महाव्रतादिरूप शुभयोग को उपादेयपने से ग्राह्य मानता है। परन्तु तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव पदार्थ का निरूपण करते हुए महाव्रत-अणुव्रत को भी आस्रवरूप कहा है। वे उपादेय कैसे हों? तथा आस्रव तो बन्ध का साधक है और चारित्र मोक्ष का साधक है; इसलिए महाव्रतादिरूप आस्रवभावों को चारित्रपना सम्भव नहीं होता; सकल कषायरहित जो उदासीन भाव उसीका नाम चारित्र है। जो चारित्रमोह के देशघाती स्पर्द्धकों के उदय से महामन्द प्रशस्त राग होता है, वह चारित्र का मल है। उसे छूटता न जानकर उसका त्याग नहीं करते, सावद्य योग का ही त्याग करते हैं। परन्तु जैसे कोई पुरुष कन्दमूलादि बहुत दोष वाली हरितकाय का त्याग करता है और कितनी ही हरितकायों का भक्षण करता है, परन्तु उसे धर्म नहीं मानता; उसी प्रकार मुनि हिंसादि तीव्रकषायरूप भावों का त्याग करते हैं और कितने ही मन्दकषायरूप महाव्रतादि का पालन करते हैं, परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते।

प्रश्न :- यदि ऐसा है तो चारित्र के तेरह भेदों में महाव्रतादि कैसे कहे हैं?

समाधान :- वह व्यवहार चारित्र कहा है, और व्यवहार नाम उपचार का है। सो महाव्रतादि होने पर ही वीतराग चारित्र होता है- ऐसा सम्बन्ध जानकर महाव्रतादि में चारित्र का उपचार किया है; निश्चय से निःकषायभाव है, वह सच्चा चारित्र है[1]।

मूलाचार में लिखा है :-

---

[1] ...ाणक, पृष्ठ २२९-३०

उपसंहार

यद्यपि भगवान महावीर की वाणी में शाश्वत सत्य का ही उद्घाटन हुआ है, तथापि उनकी वाणी में जो तत्त्व प्रस्फुटित हुए हैं, उनमें आज की समस्याओं के समाधान भी विद्यमान हैं। वस्तुतः समस्या तो मात्र एक ही है और वह है कि हम सब सुखी कैसे हों? सुख पाना और दुःख मेटना ही एकमात्र कार्य है। यह समस्या मात्र वर्तमान की ही नहीं, वरन् सर्व कालों और सर्व क्षेत्र की है।

अतः त्रैकालिक समस्याओं और वर्तमानकालीन समस्याओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है; इसीलिए उनके समाधान में भी कोई मूलभूत अन्तर नहीं हो सकता।

सम्पूर्ण विश्व में सुख और शान्ति कैसे हो? यही तो आज की प्रमुख समस्या है।

हवा, पानी और भोजन आदि का जो महत्त्व हमारे जीवन में है उससे कम धर्म, धार्मिक आस्था और धार्मिक आदर्शों का नहीं; किंतु हम हवा, पानी और भोजन आदि की जितनी आवश्यकता और उपयोगिता अनुभव करते हैं उतनी धर्म और धार्मिक आदर्शों की नहीं।

समस्त प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं तदर्थ निरन्तर प्रयत्न भी करते हैं; किन्तु वास्तविक सुख क्या है? और सुखी होने का सच्चा मार्ग क्या है? यह न जानने के कारण उनके प्रयत्न सफल नहीं हो पाते।

हवा, पानी और भोजन आदि, भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं; किन्तु दुःख के कारण भौतिक जगत में नहीं, मानसिक जगत में विद्यमान हैं। जब तक अन्तर में मोह-राग-द्वेष की ज्वाला जलती रहेगी तब तक पूर्ण सुखी होना संभव नहीं है। मोह-राग-द्वेष

की ज्वाला शान्त हो; इसके लिए धर्म, धार्मिक आस्था और धार्मिक आदर्शों से अनुप्रेरित जीवन का होना अत्यन्त आवश्यक है।

धार्मिक आदर्श भी ऐसे होने चाहिए जिनका सम्बन्ध जीवन की वास्तविकताओं से हो। जो आदर्श व्यावहारिक जीवन में सफलता-पूर्वक न उतर सकें, जिनका सफल प्रयोग दैनिक जीवन में संभव न हो; वे आदर्श कल्पना-लोक के सुनहरे स्वप्न तो हो सकते हैं, किन्तु जीवन में उनकी उपयोगिता और उपादेयता संदिग्ध ही रहेगी।

व्यावहारिक जीवन की कसौटी पर जब हम तीर्थंकर भगवान महावीर के आदर्शों को कसते हैं तो वे पूर्णतः खरे उतरते हैं। हम स्पष्ट अनुभव करते हैं कि उनके आदर्श कल्पना-लोक की ऊंची उड़ानें नहीं, वे ठोस धरातल पर प्रयोगसिद्ध सिद्धांत हैं और उनका पालन व्यावहारिक जीवन में मात्र संभव ही नहीं; वे जीवन को सुखी, शांत और समृद्ध बनाने के लिए पूर्ण सफल एवं सहज साधन हैं।

भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित वस्तु-स्वरूप का दार्शनिक और सैद्धान्तिक पक्ष तथा आन्तरिक आचरण का विश्लेषण द्वितीय खण्ड में विस्तार से किया जा चुका है। यहाँ बाह्य व्यावहारिक पक्ष पर संक्षिप्त में विचार करना असंगत न होगा।

जीवन को पवित्र, सच्चरित्र एवं सुखी बनाने के लिए तीर्थंकर महावीर ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – ये पांच महान् आदर्श लोक के सामने रखे।

व्यावहारिक जीवन में इनके सफल प्रयोग के लिए उन्होंने इन्हें साधु और सामान्यजनों (श्रावकों) को लक्ष्य में रखकर महाव्रत और अणुव्रत के रूप में प्रस्तुत किया।

उक्त आदर्शों को पूर्णरूप से जीवन में उतारने वाले साधु एवं शक्ति व योग्यतानुसार धारण करने वाले श्रावक कहलाते हैं। शक्ति और योग्यता के वैविध्य को लक्ष्य में रखकर श्रावकों की ग्यारह कक्षायें निश्चित की हैं, जिन्हें ग्यारह प्रतिमायें कहा जाता है।

में उतारने के लिए अनेक स्तरों का प्रतिपादन किया है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को उन्हें जीवन में अपनाना संभव ही नहीं, वरन् प्रयोगसिद्ध है।

जहाँ साधु का जीवन पूर्ण अहिंसक एवं अपरिग्रही होता है, वहीं श्रावकों के जीवन में योग्यतानुसार सीमित परिग्रह का ग्रहण होता है तथा जहाँ गृहस्थ विना प्रयोजन चींटी तक का वध नहीं करता है; वहाँ देश, समाज, घर-वार, माँ-वहिन, धर्म और धर्मायतन की रक्षा के लिए तलवार उठाने में भी संकोच नहीं करता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान महावीर के भूमिकानुसार आचरण एवं अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण को समझे विना ही उक्त आक्षेप किया जाता है।

भगवान महावीर ने सदा ही अनेकान्तात्मक विचार, स्याद्वादमयी वाणी और अहिंसात्मक आचरण पर जोर दिया। जैन आचरण छूआ-छूतमूलक न होकर जिसमें हिंसा न हो या कम से कम हिंसा हो, के आधार पर निश्चित किया गया है। पानी छानकर काम में लेना, रात्रि में भोजन नहीं करना, मद्य-मांसादि का सेवन नहीं करना आदि समस्त आचरण अहिंसा को लक्ष्य में रखकर अपनाये गए हैं।

भगवान महावीर ने अहिंसा को परमधर्म घोषित किया है। सामाजिक जीवन में विषमता रहते अहिंसा पनप नहीं सकती। अतः अहिंसा के सामाजिक प्रयोग के लिए जीवन में समन्वयवृत्ति, सह-अस्तित्व की भावना एवं सहिष्णुता अति आवश्यक हैं। इसीलिए उन्होंने हिंसा को कम करने के लिए सह-अस्तित्व, सहिष्णुता और समताभाव पर जोर दिया।

सहिष्णुता और समताभाव तव तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जव तक कि आग्रह समाप्त नहीं हो जाता; क्योंकि आग्रह विग्रह को जन्म देता है, प्राणी को असहिष्णु वना देता है। धार्मिक असहिष्णुता से भी विश्व में वहुत कलह और रक्तपात हुआ है, इतिहास इसका साक्षी है। जव-जव धार्मिक आग्रह सहिष्णुता की सीमा को लांघ जाता है, तव-तव वह अपने प्रचार व प्रसार के लिए हिंसा का आश्रय लेने लगता है।

लक्ष्य में एक विशेष प्रकार का तनाव लेकर जी रहे हैं। तनाव से सारे [illegible] का वातावरण एक घुटन का वातावरण बन रहा है।

वास्तविक धर्म वह है जो इस तनाव व घुटन को समाप्त करे [illegible] कम करे। तनावों से वातावरण विषाक्त बनता है और विषाक्त [illegible]तावरण मानसिक शांति भंग कर देता है।

इस सम्बन्ध में लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष माननीय अनंतशयनम् [illegible]यंगार लिखते हैं :–

"जैनधर्म के तीर्थंकर ऋषभदेव व भगवान महावीर के उपदेशों [illegible] हमें पढ़ना चाहिए। आज उन्हें अपने जीवन में उतारने का सबसे [illegible] समय आ पहुँचा है; क्योंकि जैनधर्म का तत्त्वज्ञान अनेकान्त पर [illegible]धारित है, और जैनधर्म का आचार अहिंसा पर प्रतिष्ठापित है। [illegible]धर्म कोई पारम्परिक विचारों, ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओं [illegible] अन्ध श्रद्धा रखकर चलने वाला सम्प्रदाय नहीं है, वह मूलतः एक [illegible]शुद्ध वैज्ञानिक धर्म है[1]।"

प्रत्येक सिद्धान्त तभी मान्य होता है जब वह प्रयोगों में खरा उतरे। [illegible] परिभाषा नहीं, प्रयोग है; और जीवन है धर्म की प्रयोगशाला। [illegible]र्थंकर भगवान महावीर ने धर्म की परिभाषाएँ नहीं रटी थीं; उसका [illegible] रूप समझकर, अनुभवकर, प्रयोग किया था।

शाश्वत सुख अर्थात् मुक्ति के जिस मार्ग पर वे स्वयं चले, वही [illegible]होंने सारे जगत को भी बताया; मात्र वाणी से नहीं, जीवन से। [illegible]के अनुसार सच्चा सुख और शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र [illegible]पाय स्याद्वाद शैली में अभिव्यक्त अनेकान्तात्मक वस्तु-स्वरूप – नव [illegible]दार्थ, देव-शास्त्र गुरु का सच्चा स्वरूप समझकर, भेद-विज्ञान के बल से [illegible]मस्त पर-पदार्थों से भिन्न निजात्मा को जानकर, श्रद्धानकर, अनुभव [illegible]रना और उसी में जम जाना, रम जाना, समा जाना, लीन हो [illegible]ना, तन्मय हो जाना है।

वे स्वयं इसी मार्ग पर चलकर अनन्तसुखी वीतरागी-सर्वज्ञ [illegible]हावीर बने और जगत् को भी यही सन्मार्ग बता गये हैं।

उनका उपदेश भक्त नहीं, भगवान बनने के लिए है।

---

[1] [illegible] र्द्धमान, पृष्ठ ६४–६५

मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्य णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स[1] ॥

हिंसा के दो भेद करके समझाया गया है, भावहिंसा और द्रव्य-हिंसा। रागादि भावों के उत्पन्न होने पर आत्मा के उपयोग की शुद्धता (शुद्धोपयोग) का घात होना भावहिंसा है और रागादि भाव हैं निमित्त जिसमें, ऐसे अपने और पराये द्रव्य-प्राणों का घात होना द्रव्यहिंसा है।

व्यवहार में जिसे हिंसा कहते हैं – जैसे किसी को सताना, दुःख देना आदि वह हिंसा न हो, यह बात नहीं है। वह तो हिंसा है ही क्योंकि उसमें प्रमाद का योग रहता है। आचार्य उमास्वामी ने 'प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' कहा है। प्रमाद के योग से प्राणियों के द्रव्य और भावप्राणों का घात होना हिंसा है। उनका प्रमाद से आशय मोह राग-द्वेष आदि विकारों से ही है। अतः उक्त कथन में द्रव्य-भाव में दोनों प्रकार की हिंसा समाहित हो जाती है। परन्तु हमारा लक्ष्य प्रायः बाह्य हिंसा पर केन्द्रित रहता है, अंतरंग में होने वाली भावहिंसा की ओर नहीं जा पाता है, अतः यहाँ पर विशेषकर अंतरंग में होने वाली रागादि भावरूप भावहिंसा की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि तीव्र राग तो हिंसा है, पर मंद राग को हिंसा क्यों कहते हो ? किन्तु जब राग हिंसा है तो मंद राग अहिंसा कैसे हो जायगा, वह भी तो राग की ही एक दशा है। यह बात अवश्य है कि मंद राग मंद हिंसा है और तीव्र राग तीव्र हिंसा है। अतः यदि हम हिंसा का पूर्ण त्याग नहीं कर सकते हैं तो उसे मंद तो करना ही चाहिये। राग जितना घटे उतना ही अच्छा है, पर उसके सद्भाव को धर्म नहीं कहा जा सकता है। धर्म तो राग-द्वेष-मोह का अभाव ही है और वही अहिंसा है, जिसे परम धर्म कहा जाता है।

---

[1] प्रवचनसार, गाथा २१७

४२. महावीर जयन्ती स्मारिका, १९६४ व १९६८ : राजस्थान जैन सभा, घी वालों का रास्ता, जयपुर-३
४३. मालती माधव : महाकवि भवभूति
४४. मूलाचार : अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई
४५. मोक्षमार्ग प्रकाशक : पं० टोडरमल
४६. मोक्षमार्ग प्रकाशक : पं० टोडरमल; सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली
४७. युक्त्यनुशासन : आ० समन्तभद्र; वीर सेवा मंदिर, देहली
४८. योगसार : आचार्य अमितगति
४९. योगसार : आचार्य योगीन्दुदेव; श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास
५०. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : आचार्य समन्तभद्र
५१. रयणसार : आचार्य कुन्दकुन्द
५२. राजवार्तिक : आचार्य अकलंकदेव
५३. रामचरितमानस : महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी
५४. लघीयस्त्रय टीका : आचार्य अकलंकदेव
५५. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
५६. श्लोकवार्तिक : आचार्य विद्यानन्दि
५७. श्रीमद्भागवत :
५८. समयसार : आचार्य कुन्दकुन्द
५९. समयसार कलश : आचार्य अमृतचन्द्र
६०. सम्यग्दर्शन : श्री कानजी स्वामी; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
६१. स्वयंभूस्तोत्र : आचार्य समन्तभद्र; वीरसेवा मंदिर, सरसावा
६२. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारीसिंह 'दिनकर'
६३. स्याद्वादमंजरी : हेमचन्द्राचार्य; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
६४. समाधिशतक : आचार्य पूज्यपाद
६५. सर्वार्थसिद्धि : आचार्य पूज्यपाद
६६. साकेत : मैथिलीशरण गुप्त
६७. हरिवंश पुराण : आचार्य जिनसेन
६८. ह्यू्न्सांग का भारत भ्रमण :

लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं एवं समीक्षक विद्वानों की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन —

'नवभारत टाइम्स', दिल्ली, ४ मई १९७५ ई०

"पुस्तक के प्रथम खण्ड में जैन धर्म की पूर्व परम्परा तथा पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय खण्ड 'सर्वोदय तीर्थ' में जैन धर्म के सिद्धान्तों की तथा विशेषतः स्याद्वाद की जो विशद् विवेचना प्रस्तुत की है वह सभी के पठन व मनन करने योग्य है। दो सौ पृष्ठों की इस पुस्तक में डॉ० भारिल्ल ने गागर में सागर भर दिया है। जैन बन्धुओं के लिए तो यह पुस्तक हस्तामलक के समान है ही, विभिन्न धर्मों के अध्ययन में रुचि रखने वालों के लिए भी अत्यन्त उपादेय है।"

'राजस्थान पत्रिका' (इतवारी पत्रिका) दि० १६ फरवरी, ७५

"जब मैंने डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल की 'तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ' नामक पुस्तक पढ़ी तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

पुस्तक के प्रथम खण्ड में जो प्रकाश डाला गया है, वह जैनेतर बंधुओं के गले शायद न उतरे। परन्तु द्वितीय खण्ड 'सर्वोदय तीर्थ' में उन्होंने जैन धर्म के सिद्धान्तों की तथा विशेषतया स्याद्वाद की जो विशद् विवेचना प्रस्तुत की है, वह सभी के पठन व मनन करने योग्य है। इससे जहाँ डॉ० भारिल्ल के गहन ज्ञान, अध्ययन तथा विद्वत्ता का परिचय होता है, वहाँ जैन धर्म के बारे में भी प्रामाणिक तथा अधिकृत जानकारी प्राप्त होती है।

वास्तव में, दो सौ पृष्ठों की इस सुन्दर पुस्तक में डॉ० भारिल्ल ने मानो गागर में सागर भर दिया है। इसके लिए मैं उनको तथा पुस्तक के प्रकाशक टोडरमल स्मारक ट्रस्ट को बधाई देता हूँ।

जैन बंधुओं के लिए तो यह पुस्तक हस्तामलक के समान है ही, विभिन्न धर्मों के अध्ययन में रुचि रखने वालों के लिए भी अत्यन्त उपादेय है।"

चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय

'जैन सन्देश', मथुरा, २ जनवरी ७५ ई०, भाग ४५, अं० [illegible]

[illegible]

[illegible]

—सिद्धान्ताचार्य कैलाशचन्द्र शास्त्री

'वीर-वाणी', जयपुर, १८ जनवरी, १९७५ ई०
वर्ष २७, अंक ८ [पाक्षिक]

"यह किसी भी व्यक्ति जैन और अजैनों के हाथ में निःसंकोच दी जा सकती है। पंडितजी ने गागर में सागर भर दिया है। पंडितजी को सोनगढ़ समर्थक मानते हुए जो लोग इनके प्रवचनों से संकोच करते हों—वे भी इस पुस्तक को पढ़ें तो महावीर और उनके तीर्थ की सही जानकारी उनको होगी। विचार और मान्यता भेद से ऊपर उठकर लिखी गई यह कृति सचमुच प्रशंसनीय है और अभिनंदनीय है।

—भंवरलाल न्यायतीर्थ

'जैन मित्र', सूरत, २२ मई, १९७५ ई०

.........."छह महीने हुए नहीं कि तृतीय संस्करण सामने आ गया। इससे भी बड़ी विशेषता यह है कि उ० प्र० मुमुक्षु मंडल द्वारा इस पुस्तक के रचयिता को २५,००१) से पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पिपलानी, भोपाल में सम्मानित किया गया था तब लेखक विद्वान् ने उदार हृदयपूर्वक १०१) अपनी ओर से मिला कर यह वृहद् धनराशि वीतराग-विज्ञान साहित्य सृजनार्थ तत्काल अर्पण कर दी थी।.......पुस्तिका आद्योपान्त पठनीय है।"

'सन्मति संदेश', दिल्ली, दिसम्बर, १९७४ ई०
वर्ष १९, अंक १२ [मासिक]

'प्रस्तुत प्रकाशन महावीर निर्वाणोत्सव प्रकाशन की शृंखला में भगवान महावीर और उनके तत्त्व दर्शन के विषय में विशेष महत्त्वपूर्ण कड़ी है। क्योंकि इसमें सभी विषयों पर आध्यात्मिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से चिन्तनपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है। भगवान महावीर की पूर्व तीर्थंकर परम्परा, भगवान महावीर के उल्लेखनीय पूर्व भव से लेकर सम्पूर्ण जीवन घटनाओं का सरस एवं सरल भाषा में चित्रण किया है।

धर्म सिद्धान्त में भेद विज्ञान, सर्वोदय तीर्थ, अनेकान्त, रत्नत्रय, आत्मानुभूति का तर्कपूर्ण शैली से सोदाहरण आगम के परिप्रेक्ष्य में विचार प्रस्तुत किये हैं। भाषा और भाव प्रवाही होने से पढ़ने में उपन्यास जैसा आनंद प्राप्त होता है। कहीं भी थकावट प्रतीत नहीं होती। सुन्दर सुपुष्ट सजिल्द के २०० पृष्ठ होने पर आज की अपेक्षा मूल्य अत्यल्प है। छपाई सफाई अत्यंत मनोहारी।

सन्मति, बाहुबली (कुंभोज,) जनवरी, १९७५ ई०
वर्ष २५, पुष्प ६ [मासिक]

तीर्थंकर भगवान महावीर के जीवन और सिद्धान्तों का संक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक विवेचन करने वाली प्रस्तुत पुस्तक महावीर निर्वाणोत्सव के प्रसंग में प्रकाशित होने वाले नवीन साहित्य में अत्यन्त श्रेष्ठ दर्जे की है एवं जैन-अजैन सभी को पठनीय एवं अभ्यसनीय है........।

डॉ० भारिल्ल नवीन पीढ़ी के विद्वानों में एक गंभीर विचारक, तत्त्वविश्लेषक, प्रभावी विवेचक व सिद्धहस्त लेखक हैं। सद्धर्म प्रचार की इनकी बड़ी लगन है, बड़े ही उत्साह से दिन-रात परिश्रम पूर्वक उसमें लगे रहते हैं।

पुस्तक अन्तर्बाह्य सुन्दर, आकर्षक एवं जिज्ञासुओं के अभ्यास के योग्य है। इसका महत्व और श्रम सफलता इससे ही सिद्ध है कि इसकी दस हजार प्रतियों में तीन चौथाई प्रतियाँ विभिन्न संस्थाओं द्वारा खरीदकर बांट दी गई हैं।